प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये जो व्यक्ति मंत्रों का जाप करते हैं अर्थात् स्वाध्यायशील हैं, और जो लोग तप करते हैं अथवा समाधि आदि का अभ्यास करते हैं वे लोग ईश्वर, देवता, महर्षि, महानुभावी पुरुषों का मान करते हैं, उसके फलस्वरूप पुण्य कर्माशय का परिपाक बहुत जल्दी हो जाया करता है। और उसका फल सामने आ जाया करता है। आवश्यकता इस बात की है कि साधक ये सब कर्म तीव्र संवेग से करे। तभी तत्काल फलदायक हो सकता है। इसी प्रकार से जो प्राणी काम, क्रोधादि से परिपूर्ण है और उनकी वृत्तियें क्लिष्टा हैं और उन क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में पड़कर के पाप कर्मों में लगे रहते हैं वे लोग भयभीत, दुःखी एवं कृपण जो लोग अपने पर विश्वास कर चुके हैं एवं महानुभाव और तपस्वियों में बार-बार अपकार करते रहते हैं उनका भी पाप कर्मयुक्त कर्माशय इसी जन्म में फल का दाता हो जाया करता है। इस विषय में भगवान व्यास देव ने दो उदाहरण बतलाये हैं। जैसे नन्दीश्वर कुमार मनुष्य परिणाम को छोड़कर के देवत्व में बदल गया और इसी प्रकार के क्लिष्ट कर्माशय वाला नहूष राजा देवेन्द्र से गिरकर तिर्यक योनि को प्राप्त हुआ किन्तु ये बात नारकीय प्राणियों पर लागू नहीं होती। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्ट जन्म वेदनीय। कर्माशय क्योंकि नर्क के लोग अपने कर्म भोग को ही भोगते हैं। अन्य कर्म वे कर ही नहीं सकते इसलिये उनको दृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय नहीं होता और जो लोग क्षीण क्लेश वाले हैं पाप पुण्य के झमेलों से परे हो चुके हैं उनको अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय नहीं हुआ करता, इसी बात की पुष्टि करते हुए भगवान पतञ्जलिदेव ने कहा है–

'कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।।'

इस सूत्र पर व्यासमाष्य पढ़िये–

चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः–कृष्णा शुक्ल-कृष्णा, शुक्ला, अशुक्ला कृष्णा चेति, तत्र कृष्णा दुरात्मनां, शुक्लकृष्णा बहिः साधन साध्या तत्र परिपीडाऽनुग्रहद्धारेण कर्माशयप्रचयः। शुक्ला तपः स्वाध्याय वताम् सा हि केवले मनस्थायत्तत्वा-दवहिः साधनानीना न परान् पीडयित्वा भवति, अशुक्ला कृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमे-देहानामिति, तत्राशुक्लं योगिन एवं फलसंन्यासाद् अकृष्णं चानुपादोनाद् इतरेषां तु भूतानां पूर्वमिव त्रिविधमिति।।

अर्थात् कर्म जाति चार प्रकार की मानी गई है जिसमें प्रथम पाप कर्म, दूसरे पाप पुण्यरले-मिले, तीसरे पुण्य के और चौथे न पुण्य के न पाप के। यहां पर पाप कर्म दुरात्माओं के होते हैं और पाप और पुण्य के रले मिले एवं केवल पुण्य-पुण्य के यह केवल सांसारिक लोगों के हुआ करते हैं। और जिनके अन्दर पाप पुण्य का मिश्रण नहीं होता ऐसे कर्म क्षीण क्लेश योगियों के हुआ करते हैं। इसलिये क्षीण क्लेश योगियों का पाप-पुण्य के फल का दाता कर्माशय नहीं हुआ करता। जो साधक दृढ़तर अभ्यास में संलग्न रहते हैं वे अपने पाप पुण्य के देने वाले कर्माशय को खत्म करके निष्काम कर्मयोगी बन जाया करते हैं। और वे लोग किसी प्रकार किसी के भी बन्धन में नहीं रहा करते। इसलिये कर्म फलासक्त प्राणी संसार में पाप-पुण्य रूपी फल के देने वाले कर्माशय के उपभोक्ता बने रहते हैं। जो प्राणी पाप पुण्य के झमेले से निकलकर के लोक संग्रह के लिये कर्म करते हैं वे निष्काम कर्म योग के सिद्धांत को समझकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। भगवान श्री कृष्ण ने गीता में अपने मुखारविन्द से स्पष्ट कहा है—

सक्ताः कर्माण्यविद्वांसो, यथा कुर्बन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तचिकीर्षु लोक संग्रहम्।।

अर्थात् पाप पुण्य के फल के उपभोक्ता साधारण जीव जिस प्रकार के कर्मफल में आसक्ति रखकर के कर्म करते हैं। इसी प्रकार विद्वान पुरुष को चाहिये कि वे कर्म फल की इच्छा को त्याग कर कर्म करता रहे ऐसा करने से निश्चय ही साधक कर्मबन्धन से छूट जाएगा इसलिए जैसा कि इस लेख में दिखलाया गया है उसी प्रकार योगी को चाहिए कि वह कर्मफल का त्याग करके निष्काम कर्म योगी बने।

चित्त-वृत्तियाँ एवं उनके लक्षण

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भगवान् पतंजलिदेव ने योगश्चित वृत्ति निरोधः, कह करके योग की परिभाषा बतलाई। प्रथम सूत्र से योगश्चित वृत्ति निरोध, कहकर निरोधः की परिभाषा लिखी। इस सूत्र में सर्व चित्त वृत्ति निरोधः, ऐसा नहीं कहा गया। इसलिए श्री पतंजलि देव के मन्तव्य में सम्प्रज्ञात समाधि भी योग की परिभाषा के अन्तर्गत है। यदि श्रीपतंजलिदेव योगस्सर्व चित्त वृत्ति निरोधः ऐसा कहते तो वह लक्षण केवल मात्र असम्प्रज्ञात समाधि पर ही लागू होता था क्योंकि चित्त-वृत्ति प्रवाह असम्प्रज्ञात तक थोड़ा बहुत चलता ही है। जहां पर साधक को असम्प्रज्ञात का उदय होता है। वहाँ पर चित्त वृत्तियों का गुणाधिकार भी खत्म होने लगता है। वहीं से असम्प्रज्ञात योग का प्रारम्भ होता है, और गुणाधिकार समाप्त होता है। क्योंकि इस सूत्र के अन्दर श्री पतंजलिदेव महाराज ने सर्व शब्द को ग्रहण नहीं किया। इसलिए यह लक्षण संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात योग की दोनों समाधियों पर लागू होता है। प्रख्या-प्रवृत्ति एवं स्थिति शील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। जिस समय हमारा यह चित्त प्रख्या रूप होकर रज और तम के द्वारा आक्रमित होता है उस समय वैभव विविध ऐश्वर्यों को अपना लक्ष्य बनाता है। एवं जिस समय प्रख्या रूप चित्त सत्व तम से दबाया जाता है। उस समय वही चित्त तमोगुण से घिरा हुआ होने के कारण अधर्म अज्ञान एवं अनैश्वर्यता अर्थात् दारिद्रिय को प्राप्त होता है और जिस समय यह चित्त रजो मात्रयान्विविद्ध होता है तब मोहावरण के नष्ट हो जाने पर सर्वथा प्रकाशमान-धर्म-ज्ञान-वैराग्य एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। इसके बाद रजोगुण की जो अंश मात्रा शेष थी वह भी योगी के अभ्यास-बल से समाप्त हो जाती है और चित्त स्वरूप प्रतिष्ठ हो जाता है। और इसको प्रकृति पुरुष कर विवेचनात्मक ज्ञान परिपक्व होने पर धर्म विवेक समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। वही योगियों परं प्रख्यान है। वैसे चित्त शक्ति अपरिणामिनी, अप्रतिशंक्रमा, दर्शित विषया, शुद्धा एवं अनन्ता सत्व गुणात्मिका शास्त्रों में कही गई है। इस कारण से पुरुष से विपरीत होने के कारण यह जड़ कही गई है। और प्रकृति पुरुष का भिन्न-भिन्न ज्ञान विवेक ख्याति कहलाता है। अतः उसमें भी विरक्त हुआ चित्त उस ख्याति को भी रोक देता है। वहां पर चित्त की स्थिति संस्कार मात्र से ही है। इस स्थिति को प्राप्त होने वाला योगी जीवन मुक्त हो जाता है, इसी का नाम निर्बीज समाधि है। यहाँ पर यह प्रश्न किया गया है:-

तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धि बोधात्मा पुरुषः किं स्वभाव इति।

अर्थात् इस अवस्था में विषय का अभाव हो जाने से बुद्धि बोधात्मा पुरुष कैसे स्वभाव वाला होता है इसके उत्तर में भगवान पतंजलि देव ने-

तदा दृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।

तब जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित होती है। योगी जिस समय निर्बीज समाधि में समाधिस्थ होता है उस समय वह अपने नित्य शुद्धं स्वरूप में स्थित होता है। किन्तु ज्योंहि समाधि से उठता है तो यह नियम है कि वह वृत्ति सारूप्य को प्राप्त हो जाता है। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं।

वृत्ति सारूप्यमित रत्र,

व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्यस्तद विशिष्ट वृत्तिः पुरुषः तथा च सूत्रम् एकमेव दर्शन ख्यातिरेव दर्शनमिति।

अर्थात् व्युत्थान के समय जैसी चित्त वृत्ति होती है, पुरुष उनमें मिला हुआ सा ही रहता है। क्योंकि-

चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति, पुरुषस्य स्वमिनः, तस्माच्चित्त वृत्ति बोधे पुरुषस्यानादि सम्बन्धो हेतुः।।

क्योंकि अयस्कान्त मणि के समान चित्त पुरुष के लिए संनिधिमात्रोपकारि है। और पुरुष का अपना स्वत्व है जिस

प्रकार से दर्पण में जवाकुसुम सामने करने से पुष्पाकृति भाषित रहती है प्रत्युत उसमें कोई फूल होता नहीं है इसी प्रकार से चित्त भी पुरुष के लिए संनिधिमात्रोपकारि है। अत: चित्त में पुरुष भाषित होता रहता वस्तुत: होता नहीं है। इसलिए चित्त-वृत्ति बोध में पुरुष का अनादि सम्बन्ध ही कारण है। किन्तु चित्त त्रिगुणात्मक है इसलिए उसकी वृत्तियाँ भी गुणतारम्य से अनेक रूप से प्रगट होती रहती हैं। और वह सभी निरोधव्या हैं।

योग दर्शन कार भगवान् पतंजलि देव ने चित्त वृत्तियों को पाँच प्रकार से माना है उन पाँचों प्रकारों में से क्लिष्टा और अकलिष्टा रूप से दो विशेष भेद हैं।

क्लेशहेतुका: कर्माशय प्रचय क्षेत्री भूता: क्लिष्टा: ख्यातिविषया गुणाधिकार विरोधिन्योऽक्लिष्टा:, क्लिष्ट, प्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टा:, क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति, अक्लष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयका: संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय: इत्येवं वृत्तिसंस्कार चक्रमनिशमावर्त्तते। तदेव-म्भूतं चित्तमवसिताधिकारात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलय वा गच्छतीति, ता: क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पंचधा वृत्तय:।।

जो वृत्तियें कर्माशय प्रचय में क्षेत्री भूता हैं- अर्थात् जिनके कारण कर्माशय बनता रहता है ऐसी वृत्तियाँ क्लेशों की कारण भूता क्लिष्टा कहलाती हैं और जो वृत्तियाँ गुणाधिकार विरोधिनी हैं और विवेक ख्याति की ओर बढ़ाती हैं। वह वृत्ति अक्लिष्टा कहलाती हैं। किन्तु प्रकृति का एक स्वाभाविक नियम है कि क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में अक्लिष्टा और अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में क्लिष्टा वृत्तियों का उदय देखने में आता है। इस प्रकार से वृत्ति संस्कार चक्र रात-दिन चलता रहता है। इस प्रकार से साधक ज्यों-ज्यों विवेक ख्याति की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों चित्त के अधिकार समाप्त होते चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में चित्त आत्म रूप से ठहरता है या प्रकृति में विलीन हो जाता है। इस प्रकार से क्लिष्टा क्लिष्ट भेद से वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं। वही पाँच प्रकार की वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्टा रूपों से बदलती रहती है।

वृत्तियों के पाँच प्रकार

प्रमाणविपर्यय विकल्प निद्रास्मृतय:।।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति यह पाँचों प्रकार की वृत्ति अपने विभिन्न रूपों में जाकर क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप धारण करती रहती है। जैसे प्रमाण वृत्ति-

प्रत्यक्षानुमानागमा: प्रमाणानि।

व्यास भाष्य-

इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तू-परागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्ति: प्रत्यक्ष प्रमाणम्।

फलमविशिष्ट: पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोध:, बुद्धे: प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टा दुपपादयिष्याम:, अनुमे-यस्य तुल्य जातीयेष्वनुवृत्तो भिन्न जातीयेभ्यो व्यावृत्त: संबन्धोयस्तद्विषया सामान्यावधारण प्रधाना वृत्तिरनु-मानम्। यथा- देशान्तरप्राप्तिगति: गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवद् विन्ध्यरचाप्राप्तिरगति, आप्तेन द्रष्टोऽनु-मितोवाऽर्थ परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थ विषया वृत्ति: श्रोतुरागम: यस्याश्रद्धेयार्थों वक्ता न दृष्टानुमितार्थ: स आगम: प्लवते, मूलवत्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लव: स्यात्!

प्रत्यक्ष प्रमाण = अक्ष्णोविषयं प्रत्यक्षम्।

अर्थात् जो वस्तु आँखों का विषय हो अर्थात् आँखों देखी बात को ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप माना जाता है। हर वस्तु के दो रूप होते हैं एक सामान्य दूसरा विशेष जैसे कहीं जंगल में कोई गौ चर रही है कोई मनुष्य दूर से देखकर अनुमान पूर्वक कहता है कि यह गौ मालूम पड़ती है किन्तु कह नहीं सकते कि गौ ही हैं या और कोई पशु, इस प्रकार विचारते जब मनुष्य उस पशु के नजदीक पहुँचता है कि वह और कोई पशु नहीं है प्रत्युत गौ ही है। इसलिए इन्द्रिय प्रणालिका के द्वारा सामान्य विशेषात्मक अर्थ का विशेष रूप धारण करने वाली वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण का फल ही पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध है क्योंकि पुरुष जो है वह बुद्धि बोधात्मा है। साधक ज्यों ही पुरुष साक्षात्कार के लिए ध्यान का अभ्यास करता है। प्रभु की कृपा से उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि हो जाती है। जिसका फल यह निकलता है कि ध्याता सत्वाविष्ट पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध को प्राप्त होता है।

जब तक गुण वृत्ति बोध सम्बन्ध रहता है तब तक यही पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध है। गुण सम्बन्ध टूट जाने के बाद गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है, और आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जाता है। दूसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण है, जो वृत्ति अनुमेय वस्तु के सदृश वस्तु में लगी होती है और उसके विपरीत विजातीय वस्तु से हटी हुई होती है। सामान्य विशेषात्मक अर्थों में सामान्य को धारण करने वाली वृत्ति को अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति यह जानता है कि गतिमान ही एक देश से दूसरे देश जा सकता है जिसमें गति नहीं है वह एक ही जगह कायम रहा करता है जैसे तारे और चन्द्रमा गति वाले है क्योंकि उनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना मालूम होता है। और विन्ध्याचल पर्वत अगति है क्योंकि वह एक स्थान से दूसरे स्थान नहीं जाता दिखाई देता प्रत्युत एक ही जगह कायम रहता है। एक जगह उसका कायम रहना ही अगति का द्योतक है। इसी का नाम अनुमान प्रमाण है अनुमान प्रमाण में यद्यपि साधक की दृष्टि सामान्य विशेषात्मक अर्थ के सामान्य रूप को ही धारण करती है। किन्तु वह सामान्य अर्थ भी विशेषार्थ का निश्चय कराता है जैसे कोई व्यक्ति कहे पर्वत से धुआँ निकल रहा है इसलिये जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग का होना भी जरूरी है। क्योंकि 'यत्र यत्र धूम: तत्र तत्रेवानि, इसलिए अनुमान प्रमाण भी विशेषार्थ को प्रकट करता है। साधक जिस समय ध्यानाभ्यास करना प्रारम्भ करता है उस समय आत्म साक्षात्कार के लक्षण प्रातिभ श्रावण दर्शन वेदनादि ज्यों ही प्रकट होने लगते हैं त्यों ही साधकअनुमान वृत्ति से भली प्रकार जान लेता है कि जहाँ पर प्रातिभ श्रावणादि लक्षण प्रकट हो जाते हैं वहाँ ही आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। यही अनुमान प्रमाण के द्वारा पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध का रूपक है।

आगम प्रमाण आप्त आज पुरुष के द्वारा देखा हुआ या सुना हुआ अर्थ दूसरों को अपना ज्ञान पहुँचाने के लिए वाणी के द्वारा कहा जाता है इसी को श्रोताओं के हितार्थ आगम प्रमाण कहते हैं। जिसका वक्ता दृष्टानुमितार्थ होता है वही आगम पतन से रहित होता है और जिसका वक्ता दृष्टानुमितार्थ नहीं होता उसका वचन भी कदापि सत्य नहीं होता इसलिए दृष्टानुमितार्थ वक्ता ही पौरुषेय वृत्ति बोध में कारण हो सकता है। अन्यथा नहीं यही कारण है कि हमारे ऋषि मुनि लोगों की वाणियाँ आज भी सफल मालूम होती हैं। और आजकल के अदृष्टानुमितार्थक अश्रद्धेय वक्ताओं की वाणी कभी भी यथार्थ देखने में नहीं आतीं। यही कारण है आज के युग में भविष्य वक्ताओं की वाणियाँ अयथार्थ होती हैं। इस विषय में मुझे एक बात याद आई। मैं एक बार एक स्थान पर योग प्रचारार्थ गया था वहाँ पर एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि तीन महीने के अन्दर-अन्दर अवश्य प्रलय आ जायेगी। मैंने तीन महीने उसी प्रान्त में वास किया किन्तु उसकी वाणी लवलेश मात्र से भी सत्य न हुई क्योंकि वक्ता अयथार्थ था और दृष्टानुमितार्थ नहीं था। अब तक वृत्ति का परिणाम रूप यहाँ समझाया गया। अब इससे आगे विपर्यय वृत्ति को बतलाते हैं। जिसको अविद्या रूप से कहा गया है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्

यथार्थ रूप में स्थित न होने वाले ज्ञान को विपर्यय मिथ्या ज्ञान कहा गया है। यह ज्ञान एक प्रकार का भ्रान्ति दर्शन एवं अविद्या कहा जाता है। कोई-कोई लोग इस विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण वृत्ति के अन्दर समावेशित करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। प्रमाण वृत्ति का विषय पहले सूत्र में खोलकर बतला दिया गया है। उसमें प्रमाण के द्वारा अप्रमाण का वाद हो जाता है। जैसे आँख की विकृति से या आँख को दबाने से एक-एक वस्तु की दो दो वस्तु दिखने लगती हैं यथार्थ में वस्तु एक ही होती है दो नहीं। यदि आँख को दबाने से दो चन्द्रमा दिखाई देने लग जाय तो इसका अर्थ यह नहीं है कि एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा हो गये। चन्द्रमा एक ही है दूसरे चन्द्रमा का दिखना भ्रान्ति दर्शन है। इसलिए वह प्रामाणिक बात नहीं मानी जाती। प्रत्युत अविद्या है क्योंकि वह अतद्रूप प्रतिष्ठित है। अब इससे आगे विकल्प वृत्ति का वर्णन करते हैं-

शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्योविकल्प:।

स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययो पारोही च वस्तु-शून्यत्वेऽपि शब्दज्ञान माहात्म्यनिबन्धनो व्यवहारो दृश्यते, तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किंमत्र केन व्यपदिश्यते। भवति च व्यपदेशे वृत्ति यथा चत्रस्य गौरिति।

सूत्र में बहुत ही सरल और सीधे शब्दों में भगवान् पतंजलि देव ने बतला दिया कि शब्द ज्ञान का अनुपतन करने वाली वृत्ति विकल्प वृत्ति है। शब्द ज्ञान से दो वस्तु भासित तो होती है वस्तुत: होती नहीं, यह विकल्प वृत्ति न प्रमाण में लगाई जा सकती है और न मिथ्या ज्ञान में; क्योंकि वह वस्तु सत्ता कुछ भी नहीं है। किन्तु शब्द ज्ञान से भाषित होती है जैसे कोई कहे कि चेतनता ही पुरुष का स्वरूप है वस्तुत: तो चेतनता पुरुष का रूप नहीं प्रत्युत्त चितिरेव पुरुष: चेतनता ही पुरुष का स्वरूप है। यह शब्द चेतनता को पुरुष का स्वरूप है यह शब्द चेतनता को पुरुष का धर्म बतला रहे हैं किन्तु चेतनता पुरुष का धर्म नहीं। प्रत्युत चेतनता ही पुरुष है इसलिए वस्तुशून्य शब्द ज्ञान का अनुपतन करने वाली वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहते हैं। इसके बाद निद्रा वृत्ति का वर्णन करते हैं।

अभाव प्रत्ययावलम्बना वृत्तिनिद्रा।

अर्थात् बोध के अभाव का आश्रय लेने वाली वृत्ति को निद्रा वृत्ति कहते हैं। जिस समय मनुष्य सुषुति में पहुँच जाता है उस समय सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव हो जाता है। अर्थात् ज्ञान भाषित नहीं होता। इसलिए निद्रा वृत्ति अभाव के कारण का ही आश्रय लेती है। सभी प्रकार के ज्ञान की शून्यता रहती है इसीलिए इस वृत्ति को अभाव आश्रित माना गया है। किन्तु है वृत्ति ही। क्योंकि सोने के बाद में जब मनुष्य उठता है तब उसको अपनी निद्रा वृत्ति का ज्ञान अवश्य होता है कि आज तो मैं बहुत ही सुखपूर्वक सोया। या दु:ख पूर्वक सोया चित्त वृत्ति को दु:ख और सुख के साथ सोने का आभास बना रहता है। देखिये इस सूत्र पर व्यासजी का भाष्य–

सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्यय विशेष: कथं सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मन: प्रज्ञां में विशारदी करोति, दु:ख महमस्वाप्सं स्त्यांनं में मनोभ्रमत्य–नवस्थितं, गाढ़ मूढ़ोऽहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तमलसं मुषितमिव तिष्ठतीति, स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे, तदाश्रिता स्मृतयश्च तद्विषया न स्यु:, तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा, सा च समाधावितर प्रत्ययव–न्निरोद्धव्येति।

अभाव प्रत्यय का अवलम्ब लेने वाली वृत्ति प्रबोधकाल में एक विशेष ज्ञान को पैदा करती है। इसलिए वह प्रत्यय विशेष है, जैसे आज मैं सुख पूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है, बुद्धि प्रकाश कर रही है, मेरी बुद्धि विक्षिप्त है। मैं आज बिलकुल नहीं सोया मेरा मन अकर्मण्य सा हो रहा है आज मैं अत्यन्त गाढ़ निद्रा में सोया। मेरे शरीर के अंग भारी हो रहे हैं। चित्त अत्यन्त व्याकुल है आलस्य युक्त मन चुराया सा हो रहा है। यदि निद्रा को वृत्ति न माना जाय तो जागने पर इस प्रकार के विचार मन में न आयें, क्योंकि वृत्तिओं के अनुभव के बिना वृत्तियों का आश्रय लेने वाली स्मृतियें उस विषय की नहीं होनी चाहिए। इसलिए निद्रा भी अन्य वृत्तियों की तरह एक वृत्ति है। समाधिबल से इसका भी निरोध होना चाहिए। पाँचवी वृत्ति स्मृति है। स्मृति का लक्षण भगवान् पतंजलि देव इस प्रकार करते हैं–

अनुभूत विषया संप्रमोष: स्मृति:

अनुभव किए विषय का न चुराया जाना स्मृति कहलाती है इस सूत्र पर प्रश्नोत्तर लिए हुए व्यास भाष्य की पंक्ति पढ़िये–

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति, आहोस्विद्विषय–येम्येति ग्राह्यो परक्त: प्रत्ययोग्राह्य ग्रहणों भयाकार निर्भास स्तथाजातीयकं संस्कारमारभते, स संस्कार: स्वव्यञ्जकां जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृति जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धि: गाह्याकार पूर्वा स्मृति:, सा च द्वयी–भावितस्मर्त्तव्या चाभावित–स्मर्तव्या च, स्वप्ने भावितस्मर्त्तव्या, जागतसमये त्वभावितस्मर्त्तव्येति, सर्वा: स्मृतयप्रमाण विपर्य्यय विकल्पनिद्रास्मृतीनामनुभावाद् भवन्ति, सर्वाश्चैता वृत्तय: सुखदु:ख मोहात्मिका: सुखदु:ख मोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येया:, सुखानुशयी राग:, दु:खानु शयी द्वेष: मोह: पुनरविद्येति, एता: सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्या: आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसम्प्रज्ञातो वेति।

ऊपर के सूत्र में यह बतलाया गया है कि अनुभूत विषय का न चुराया जाना ही स्मृति है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि पूर्व काल में अनुभव की वृत्तिओं को भी चित्त स्मरण

करता है या विषय को, ग्राह्य विषय के अन्दर लगा हुआ बुद्धि का ज्ञान ग्राह्य ग्रहण उभयाकार में भाषित होने वाला उसी प्रकार के संस्कार उत्पन्न करता है और वह संस्कार अपने कारण के आकार से बोधक होता हुआ ग्राह्य ग्रहणाकार स्मृति को जन्म देता है, उनमें से ग्रहणस्वरूप वाली बुद्धि और विषय के स्वरूप वाली स्मृति दो प्रकार की मानी गई है। एक का नाम भावितस्मृति एवं दूसरी का नाम अभावितस्मृति है अर्थात् एक स्मृति वो जो इस समय विद्यमान पदार्थों से बनती है और दूसरी वह जो अविद्यमान पदार्थों के स्मरण से बनती है। स्वप्नावस्था में जिन पदार्थों का स्मरण होता है वह जाग्रतावस्था में प्राय: देखे हुए होते हैं इसलिये इसको भावितव्यास्मृति कहते हैं। और जाग्रत अवस्था में स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है। वह अभावितव्यास्मृति कहलाती है। और ये सारी स्मृतियाँ प्रमाण-विपर्य्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति इन पाँचों के अनुभव से पैदा होती हैं। ये सब स्मृतियाँ सुख दु:ख एवं मोह रूप हैं। सुख-दु:ख मोह आदि क्लेशों के अन्तर्गत बतलाए गये हैं। जैसे- सुखानुशयी राग:, सुख भोग के बाद जो सुख की वासनायें मन में रह जाती हैं वही राग कहलाता है। दु:खानुशयी द्वेष:, दु:ख भोगने के बाद दु:ख भोग के कारण भूत साधनों पर जो क्रोध पैदा होता है उसी को द्वेष कहते हैं। मोह नाम अविद्या का है ये सभी वृत्तियाँ निरोधव्या हैं। इनके निरोध करने के लिए संप्रज्ञात योग ही प्रधान उपाय है। जहाँ से भगवान् पतंजलि देव ने—

प्रमाण-विपर्य्यय-विकल्पस्मृति आदि लक्षण बतलाये उनके आरम्भ में ही चित्त वृत्ति निरोध: योग:, कह करके चित्त वृत्तियों के निरोध का आशीर्वाद दिया। ग्राह्य ग्रहण उभयात्मक ज्ञान चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा ही हटाया जा सकता है।

अन्य और कोई उपाय नहीं है। इसी कारण से भगवान् पतंजलि देव ने चित्त वृत्ति निरोध: कहकर के निरोध को ही योग बतलाया और निरोध के उपायों का भी वर्णन किया। इस छोटे से लेख में हमने चित्त की वृत्तियों के क्लिष्टा-क्लिष्ट वृत्तियों के रूप को समझाने की चेष्टा की। इससे आगे के लेख में चित्त-वृत्ति निरोध के उपायों पर विचार करेंगे। चित्त की वृत्तियाँ शाखा प्रशाखा रूप से चाहे कितने ही रूप धारण करलें किन्तु वे सब के सब प्रमाण विपर्य्यय-विकल्प-निद्रा एवं स्मृति के अन्तर्गत ही होती है। इन वृत्तियों के निरोध हो जाने पर छोटी मोटी सभी वृत्तियाँ स्वत: ही निरुद्ध हो जायेंगी। हमारे सब प्रकार से परिपूर्ण अनुभव वाले आचार्यों ने इन सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों को भली प्रकार समझ कर प्रमाण-विपर्य्यय आदि के अन्दर समावेशित करके दिखला दिया। इनके निरोध के लिए क्या करना चाहिए। इससे आगे के विषय को अग्रिम लेख में समझाने की चेष्टा करेंगे।

समाधि-सिद्धि एवम् ईश्वर प्रणिधान

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग दर्शन के विभूति पाद में समाधि प्राप्ति के अनेक उपायों का वर्णन किया गया है उनमें से समाधि प्राप्ति के लिए भगवान पतंजलि देव ने दो प्रकार के विशेष अधिकारियों का संकेत किया है। प्रथम अधिकारी इस प्रकार के हुआ करते हैं जिनको जन्म से ही योग ध्यान की प्रतीति हो जाया करती है। यह योगी इस प्रकार के होते हैं कि इनमें जन्म-जन्मान्तर के संस्कार प्रबल रहते हैं। इन्हें केवल निमित्त प्राप्त होते ही योगस्थिति प्रगट हो जाया करती है ऐसे योगियों को भगवान् पतंजलि देव ने विदेह और प्रकृतिलीन नामों से अभिव्यक्त किया है। सूत्र इस प्रकार है-

भव प्रत्ययों विदेह प्रकृति लयानाम्।

इसका अर्थ है कि विदेह एवं प्रकृति लीन-योगियों को जन्म से ही योग की प्रतीति हुआ करती है। इस पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी कहते हैं-

विदेहानां देवानां भव प्रत्यय: तेहि स्वसंस्कार-मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्त: स्व-संस्कार विषाकं तथा जातीयक्रमतिवाह्यन्ति तथा प्रकृतिलया: साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्य पदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावततेऽधिकार वशा-च्चित्तम् इति।

अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म शरीर के भावों का अतिक्रमण करने वाले देवं विदेह कहलाते हैं। यद्यपि यह लोग वैराग्य संयुक्त हैं किन्तु फिर भी- **स्वसंस्कार मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानुभवन्त:** स्वसंस्कार की सहायता से चित्त के द्वारा वह अपने आपको केवली भाव में स्थित समझते हैं। फिर भी तथा '**जातीयकम् स्वसंस्कार विपाकं अति वाह्यन्ति**' इस प्रकार के अपने संस्कार विपाक का उपभोग करते हैं। इसलिए इस प्रकार के जो देव लोग हैं उनको जन्म धारण करने मात्र से ही योग की प्रतीति हो जाया करती है। और जिन योगियों का चित्त प्रकृति में लीन होने के साधिकार है वे अवधि पर्यन्त अपने आपको कैवल्य स्थिति में अनुभव करते हैं। '**यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशा-च्चित्तम्**' जब तक उनका चित्त अधिकार वश होने के कारण लौट नहीं आता। तभी तक वह मोक्ष सुख रहता है। क्योंकि उसके प्राकृत पदार्थों का अधिकार अर्थात् चित्त में निवृत नहीं हुआ है।

प्राय: यही भाव सभी भाष्यकारों के हैं। ऐसे योगियों का पुन: पुनरावर्तन संसार में होता रहा करता है जब तक ये अपने आपको शुद्ध पद में विलय नहीं कर लेते। किन्तु इनको हानि कुछ नहीं। क्योंकि ये लोग मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं, जन्म लेते ही इनका पूर्व जन्मापेक्षित अभ्यास क्रमश: प्रारम्भ हो जाया करता है। श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने समन्वय योग का उपदेश दिया है। और वह अर्जुन ने सब प्रकार से स्वीकार किया, किन्तु अर्जुन के मन में थोड़ी सी भ्रान्ति हो गई और उस भ्रान्ति के कारण श्रीकृष्ण जी से इस प्रकार का प्रश्न कर ही लिया—

—हे श्रीकृष्ण जो श्रद्धा से युक्त है, योग से जिनका मन विचलित हो गया है। वे लोग योग-संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होते हैं। कहीं '**उभयतोभ्रष्ट**' होकर ब्रह्ममार्ग में विमूढ़ हुए बीच में ही तो नष्ट नहीं हो जाते इसलिए हे कृष्ण तुम मेरे इस संशय का नाश करो। तुम से बढ़कर इस संशय का छेत्ता मुझे इस संसार में और कोई दिखलाई नहीं देता। भगवान् जगदात्मा श्रीकृष्ण ने निम्नांकित श्लोकों में अर्जुन के इस प्रश्न का यथावत् उत्तर दिया।

पार्थ नैवेह नामुत्र

विनाशस्तस्य विद्यते।

न हि कल्याणकृत्कश्चि-

त्दुर्गतिं तात गच्छति।।

प्राप्य पुण्यकृता लोका-

नुषित्वा शाश्वती: समाः।

शुचीनां श्रीमतां गेहे

योग भ्रष्टोऽभिजायते।।

अथवा योगिनामेव

कुले भवति धीमाताम्।।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके

जन्म यदीदृशम्।।

अर्थात् हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का यहाँ और परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। कल्याण मार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करता वह पहले पुष्यवान् लोकों को प्राप्त करके और लम्बे समय तक वहाँ रह करके पुन: मनुष्य लोक में आकर पवित्र श्रीमानों धनवानों के यहाँ उसका जन्म हो जाया करता है, या योगियों के ही घर में उसका जन्म होता है। इस प्रकार का भी जन्म प्राप्त करना इस मनुष्य लोक में अति दुर्लभ है। और फिर वहां जन्म लेकर के- उस साधक को पौर्व दैहिक बुद्धि संयोग पुन: प्राप्त हो जाया करता है।

उस बुद्धि संयोग को पा करके वह योगी विवश होकर पुन:-पुन: योग संसिद्धि अर्थान् क्लेश कर्म विपाकादिकों से रहित जो सदा सर्वदा अपरामृष्ट है उसी पुरुष-विशेष का नाम ईश्वर है।

अर्थात् अविद्यादि क्लेश और अच्छे-बुरे कर्म और उनका फल-विपाक तदनुगुणवासना ये सब-के-सब मन में रहते हुए पुरुष में कहे जाते हैं, और उसी को उनके फलों का भोक्ता मानते हैं। जैसे जय और पराजय तो योद्धाओं में हुआ करती है किन्तु उनके मालिकों की माना जाया करती है। इसी प्रकार कर्मफल का भोक्ता पुरुष को माना जाता है। वस्तुत: वह सभी प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट होता है। जो सदा सर्वदा सभी प्रकार के भोगों से बिलकुल ही अपरामृष्ट रहा है उसी पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्

उस ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है अर्थात् उस ईश्वर से बढ़कर के सर्वज्ञ न अब तक कोई हुआ है न आगे होगा। ईश्वर सबसे बढ़कर सर्वज्ञ है। और वह ईश्वर—

पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि के शुरू में होने वाले हिरण्यगर्भादिकों का भी गुरु है क्योंकि वह काल की हद से परे हैं। उसका प्रभाव अचिन्त्य है।

जिसकी सीमा का उल्लंघन करके अवच्छेदनार्थ काल उपस्थित नहीं होता उसी सत्ता का नाम गुरु है उसी के लिए भगवान पतंजलि देव ने पूर्वेषामपि गुरु कालेना नवच्छेदात् कहकर के उस परम गुरु की परिभाषा लिख दी। इस सूत्र के अर्थ में श्री व्यासजी कहते हैं-

ईश्वर अनादि काल से सिद्ध है इसलिए काल की सीमा से परे रहकर वह पूर्व गुरु जो काल के अवच्छेदन में आ चुके हैं उन सबका गुरु है। श्री पतंजलि देवजी ने ईश्वर की परिभाषा समझाने के लिए इतने सूत्रों में उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया। अब हम उस ईश्वर को आत्म-निवेदन किस प्रकार से करें जिससे वह हमारे अभिमुख हो सके, और हम सब उसके यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने अभिहित पदार्थ समाधि को प्राप्त कर सकें। नाम और नामी का अभिन्न सम्बन्ध रहा करता है। और उसके लिए ईश्वर की प्राप्ति का साधनभूत उसका वर्णन करते हुए भगवान पतंजलि देव ने उसके बोधक नाम का संकेत किया—

तस्य वाचक: प्रणव।।

उस ईश्वर का बोधक नाम प्रणव है। प्रणव क्या है इसका बहुत बड़ा वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सभी सत्ता प्रणव के अन्दर विलीन हो जाती है।

प्रणवात्प्रभवो रुद्र:

प्रणवात्प्रभवो हरि।

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा

प्रणव एव अवशिष्यते।।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तीनों की उत्पत्ति प्रणव से है और इनके बाद में प्रणव ही शेष बच जाते है और इनके बाद में प्रणव ही शेष बच जाते हैं। ऊँकार एक इस प्रकार की सत्ता है जो काल की सीमा का अतिक्रमण करके अखिल अंड ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसलिए प्रणव का जप करते हुए उस परम तत्त्व का ध्यान करते हुए ही हम ईश्वर का अभिमुखीकरण कर सकते हैं। अत: भगवान पतंजलि देव ने आदेश दिया है:-

तज्जप: तदर्थ भावनम्।।

अर्थात् अर्थ भावना सहित प्रणव का जप करना चाहिए। तभी उसका परिणाम सामने आयेगा। इसीलिए हमारे शास्त्रों का आदेश है:

स्वाध्यायद्योगमासीत

योगात्स्वाध्याय मामनेत्।

स्वाध्याय योग सम्पत्त्या

परमात्मा प्रकाशत।।

स्वाध्याय से योग प्राप्त हो और योग से स्वाध्याय का मनन करे, स्वाध्याय और योग दोनों की शक्ति से परमात्मा का प्रकाश हो जाता है। प्रवण के जप का आदेश देते हुए भगवान पतंजलि देव ने 'तज्जप: तदर्थभावनम् कह करके प्रणव जाप के साथ-साथ प्रणवाविघेय ईश्वर के ध्यान करने की भी विशेष रूप से आज्ञा प्रदान की है। बात जैसी की तैसी सार्थक है। ऊपर के श्लोक में स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाशत्व होना वर्णित है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म

व्याहरन्मामनुस्मरन्।

य: प्रयाति त्यजन्देहं

स याति परमां गतिम्।।

गीता।।

अर्थात् ओम इस एक अक्षर का उच्चारण करता हुआ और मेरा ध्यान करता हुआ, जो शरीर छोड़ता है वह परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि प्रणव का जाप करने से एवं प्रणवा-विघेय का ध्यान करने से ही मनुष्य परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह प्रमाणित हुआ कि मनुष्य को स्वाध्याय और योग ही ईश्वर की ओर अभिमुख करने का मुख्य साधन है। जो मनुष्य अनवरत स्वाध्यायशील रहता है एवं ईश्वर के प्रमुख नाम प्रणव का जाप करता है वह अपने अभ्यास बल से अल्प समय में ही ईश्वर को अभिमुख कर लेता है। और ईश्वराभिमुख के परिणाम-स्वरूप समाधि को पा जाता है। तभी उसकी सब प्रकार की अन्तराय निवृत्ति एवं पाप नाश हो जाया करती हैं। शास्त्रीय प्रवचन है कि-

योगनिर्वहति अशेषं पाप पंजरम्।

यही ध्यानयोग का निर्मल तेज है जिससे सब प्रकार का पंजर नष्ट हो जाया करता है। ध्यान विन्दोपनिषद् का वचन है कि—

शैले समं पापं विस्तीर्ण

बहु योजनम्।

भिद्यते ध्यान योगेन

नान्यो भेद: कदाचन।।

यदि पापों का पहाड़ का पहाड़ भी हो तो वह ध्यानयोग के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। उसको नाश करने का दूसरा अन्य कोई सबल साधन नहीं है। रामायण आदि में इस प्रकार के बहुत से प्रकरण मिलते हैं, जिनमें भगवान् श्रीराम ने अपने मुख से स्पष्ट यह कह दिया है कि जीव के सम्मुख होते ही उसके करोड़ों जन्मों के पापों को तत्काल नष्ट कर दिया करते हैं। जैसे लंका काण्ड में जिस समय विभीषण श्रीराम की शरण में आया, और उसके राक्षस होने पर शरण होने में कुछ शंकायें उपस्थित की गई वहाँ पर भगवान् श्रीराम ने विभीषण को निर्भीकता प्रदान करते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया-

कोटि विप्र वध लागेहि जेही!

आये शरण तजहुँ नहिं तेही।।

सन्मुख होहि जीव मोहि जबहीं।

कोटि जन्म अघ नासहिं तबहीं।।

अर्थात् ईश्वर के सन्मुख होते ही उसके अनन्त करोड़ों पापों का नष्ट हो जाना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार सूर्योदय हो जाने के बाद अन्धकार का नाश हो जाना स्वाभाविक हुआ करता है। वैसे तो जीव ईश्वर के सन्मुख हर समय रहता ही है। किन्तु अभिमुखीकरण का सीधा और स्पष्ट अर्थ यही है कि वह ईश्वरीय तेज का स्पष्ट अनुभव करले और अनवरत करता ही चला जाये तो अवश्य ही वह जीव ईश्वरीय तेज को पाकर तन्मय हो जायेगा, एवं सिन्धु में बिन्दु की तरह से अपनी आत्म सत्ता को परमात्म सत्ता में सदा सर्वदा के लिए विलीन कर देगा। 'समाधि शब्द का अर्थ भी **'समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मनः'** अर्थात् जीवात्मा परमात्मा की एकावस्था का ही नाम समाधि है। जब मनुष्य परमगुरु ईश्वर को सर्व कर्मार्पण करके अपने आपको न्यौछावर कर डालता है तभी ईश्वर का यह संकल्प होता है कि **'इदमस्याभितमस्तु'** यह स्वाभाविक ही है इसीलिए भगवान् पतंजलि देव ने ईश्वर-प्रणिधान को अन्य श्रद्धा-वीर्य स्मृति समाधि आदि साधनों की अपेक्षा सरलतम साधन माना है इसीलिए:-

समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्

ईश्वर प्रणिधान को ही अदीनतापूर्वक सुलभ साधन बतलाया, ईश्वर प्रणिधान में साधक को कोई किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता प्रत्युत प्रेमपूर्वक उनका अनन्यचिन्तन एवं सर्व कर्मापणता हो उसकी सफलता का सफल साधन बन जाती है। ईशवर प्रेमी किसी से बात नही करना चाहता, उसकी वृत्ति रहती है :

सुनत न काहू की कही।

कहत न अपनी बात।।

नारायण वा रूप में।

मगन रहत दिन रात।।

ऐसा साधक ही प्रणवाविधेय का प्राप्त करके निहाल एवं कृतार्थ हो जाया करता है।

अभ्यास और वैराग्य

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

'सिद्धयोग' के छठे वर्ष के विशेषांक में हमने शास्त्रोक्त विधि से क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है। ये क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियाँ ही मनुष्य को जन्म-मरण के चक्कर में डाले रहती हैं। वृत्ति संस्कार चक्र अहर्निशि चलता रहता है। इसके निरोध के लिए योगिराज लोग प्रत्येक क्षण प्रयत्नशील रहते हैं। सन्त-महात्मा-साधुजन अपने गृहस्थ व्यवहार को छोड़कर वनों में वास किया करते हैं, जिससे जन्म-मरण के चक्कर से बच जायें। भगवान पतंजलि देव ने योग-दर्शन में इन वृत्तियों के निरोध के लिए दो उपायों का वर्णन किया है और वह उपाय हैं- अभ्यास और वैराग्य यथा :-

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेवजी लिखते हैं कि-

चित्त नदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च, या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेकविषय निम्ना सा कल्याणवहा संसारप्राग्भाराऽविवेक वि-षय-निम्ना पापवहा, तत्र वैराग्येण विषय स्रोतः खिली क्रियते विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत। उद्घाटयते इत्युभया-धीनश्चित्तवृत्ति निरोधः।

अर्थात् चित्त नाम नदी का प्रवाह दोनों ओर की तरफ बहता है कल्याण के लिए और अकल्याण के लिए। जिसका प्रवाह कैवल्य से आरम्भ होकर विषय विवेक की ओर झुकता हुआ जाता है वह कल्याणवहा और जिसका स्रोत संसार से पैदा होता है और अविवेक की ओर झुकता है वह चित्त नाम नदी पापवहा कहलाती है। यहाँ पर वासनिक प्रवाह को वैराग्य द्वारा क्षीण किया जाता है और विवेक दर्शन के अभ्यास से ज्ञान को जाग्रत करके अभ्युत्थान की ओर बढ़ता है इस प्रकार से अभ्यास वैराग्य के द्वारा चित्त वृत्ति निरोध होती है। इसी विषय को अखिल लोकपालक भगवान् श्रीकृष्ण ने परिपुष्टित किया है। उन्होंने अर्जुन को उपदेश देते हुए समत्व योग समझाया है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मेन प्रणश्यति।।
सर्व भूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमाश्रितः।
सर्वथा वर्तमानोपि स योगी मयि वर्तते।।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽजुनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः।।
अर्थात् आत्मानं सर्वं भूतस्थं सर्वं भूतानि चात्मनि सर्वत्र सम दर्शनों योग युक्तात्मा ईक्षते।

अपने आपको प्राणीमात्र के अन्दर और प्राणीमात्र को अपने अन्दर योग युक्तात्मा देखता है। इस प्रकार की स्थिति वाले योगी के लिए भगवान आदेश करते हैं कि जो मुझे सर्वत्र देखता है, और सभी को मेरे अन्दर देखता है। उसके लिए मैं नष्ट नहीं होता और वह मेरे लिए नष्ट नहीं होता। जो योगी सर्वभूतस्थित मुझको एक जगह अवस्थित होकर के भजता है, सभी स्थितियों में रहता हुआ भी वह योगी मेरे अन्दर रहता है एवं जो सभी के दुःख-सुख को अपने दुःख-सुख के समान समझता है, समता में स्थित रहने वाला वह योगी सर्वश्रेष्ठ एवं ऊँचा माना गया है। भगवान श्रीकृष्ण के इस प्रकार उपदेश करने पर मन की चंचलता को बतलाते हुए इस योग को प्राप्त करने में बहुत ही कठिनता का संकेत किया। अर्जुन ने कहा—

यो यं योगः त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वास्थितिं स्थिरां।।
गीता 6:33

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।
गीता 6:34

अर्थात् हे प्रभो! आपने समत्व के द्वारा जिस योग का उपदेश दिया वह तो बिल्कुल ठीक है किन्तु मन के चंचल होने से स्थिति को मैं कैसे प्राप्त करूँ। मन मसल डालने वाला और बहुत ही चंचल है इसको पकड़ लेना तो मैं इतना दुष्कर मानता हूँ कि जैसे वायु का पकड़ लेना दुष्कर है। इसका उत्तर देते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने मन की चंचलता को निम्नांकित श्लोकों में स्वीकार किया और रोकने के लिए अभ्यास और वैराग्य का उपदेश दिया।

असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च ग्रह्येते।।
गीता 6:35

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुषायतः।।
गीता 6:36

अर्थात् हे अर्जुन इसमें कुछ भी शंका नहीं है कि मन को रोका जाना बहुत ही कठिन है किन्तु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उसे पकड़ा जा सकता है। जो लोग असंयतात्मना हैं वह योग को प्राप्त नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जो लोग आत्मवशी हैं वे लोग प्रयत्न करते हुए योग को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए परमश्रेय की प्राप्ति के लिए मनोनिग्रह परमावश्यक है। भगवान पतंजलि देव एवं अखिलआत्मा श्रीकृष्णजी और समस्त ऋषि मुनियों का यही सिद्धान्त है कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही मन पकड़ा जा सकता है। अभ्यास के विषय का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान पतंजलि देव लिखते हैं कि–

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः

इस सूत्र पर व्यासदेवजी भाष्य लिखते हैं।

चित्तस्या वृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थिति-स्तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहस्तत्पंपिपादयिषया तत्सा-धनानुष्ठानमभ्यासः।

अर्थात् वृत्ति रहित चित्त की प्रशान्त वाहिता स्थिति को सम्पादित करने के लिए बलपूर्वक किया हुआ प्रयत्न ही अभ्यास कहलाता है। साधक के लिए अभ्यास के लक्ष्य बहुत हैं **'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना'**, के अनुसार साधक अनेक प्रकार की धारणाओं को सामने रखकर अभ्यास करते हैं, और उनको सफलता भी अवश्य मिलती है। किन्तु साधक किसी प्रकार का कोई भी अभ्यास करे उस स्थिति में अभ्यसनीय नियम को सामने रखते हुए यदि अभ्यास करेगा तो जल्दी ही सफलता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेगा। भगवान पतंजलिदेव ने किए हुए अभ्यास की सफलता प्राप्त कराने वाले तीन सिद्धान्तों का पातंजलि योग-दर्शन के समाधिपाद के 14 वें सूत्र में इस प्रकार वर्णन किया है।

सतु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारा से वितोदृढ़ भूमिः।।

दीर्घकाल सेवितः, निरंतरा सेवितः, तपसा-ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान्, दृढ़भूमिर्भवति व्युत्थान संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूत विषय इत्यर्थः।

अर्थात् किसी भी अभ्यास को साधक जिस समय प्रारम्भ करता है उसको लम्बे समय तक करते रहना चाहिए, और लगातार करना चाहिए निष्ठापूर्वक करना चाहिए, तभी वह अभ्यास सफलता की पराकाष्ठा को पा जाता है। दृढ़ता से किया हुआ अभ्यास सफलता की उच्चतम सीढ़ी पर ले जाकर छोड़ता है। साधक को कर्त्तव्य-परायण रहना चाहिये। जो साधक अपने कर्त्तव्य को छोड़ देता है वह उच्चतम स्थिति को नहीं पा सकता। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आदेशात्मक शब्दों में बिल्कुल स्पष्ट कहा है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भुर्मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि।
गीता 6:47

अर्थात् हे अर्जुन! कर्म करने में हो तुम्हारा अधिकार है फलों में नहीं। कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो और ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि कर्मफल की इच्छा न हो और मनुष्य अकर्मण्य बन जाये। भगवान के इस आदेशानुसार प्रत्येक परमार्थ साधक को को अभ्यास-परायण बना रहना चाहिये। किन्तु आज इस कलिकाल में हर मनुष्य केवल फल भोक्ता ही बनना चाहता है। वह किसी प्रकार का पुरुषार्थ करना ठीक नहीं समझता ऐसे लोग भाग्य भाग्य ही पुकारा करते हैं किन्तु उनको इस बात का ज्ञान नहीं है कि सब कुछ पुरुषार्थ के साथ ही हुआ करता है–

उद्योगिनं पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मी
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति
दैवं निहत्य कुरुपौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्रदोषः

अतः साधक को चाहिए कि वह पुरुषार्थशील बना रहे। पुरुषार्थ के द्वारा सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है। पुरुषार्थ के द्वारा प्रारब्ध में परिवर्तन हो जाता है भगवान पतंजलि देव ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि इन योग के आठ अंगों का वर्णन किया है। यह सभी अंग साधना की सीढ़ी हैं किन्तु फिर भी योग की वर्णाक्षरी अभ्यान्तर धारणा से ही आरम्भ होती है और धारणा मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये किसी न किसी विषय को अपना लक्ष्य बनाना पड़ता है। इसलिये इस प्रकार की साधना वाले व्यक्तियों के लिये-मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्न के नियमानुसार साधक अपनी-अपनी मति के अनुसार धारणा स्थली का निश्चय करता है। परमार्थ प्राप्ति के इच्छुकसाधक मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक अनाहत, विशुद्धा एवं आज्ञा कमलआदि को अपना लक्ष्य बनाते हैं। कोई-कोई भूमध्य मूर्धाज्योति, जिह्वामध्य, जिह्वाअग्रे तालुमूल एवं नासिकाग्र आदि को अपना लक्ष्य बनाकर परमश्रेय प्राप्ति की लगन में लग जाते हैं। यही सब साधनामार्ग हैं, इसके अतिरिक्त भक्तिमार्ग के अभ्यासी ईश्वर को आत्मसमर्पण सर्व कर्म फलत्याग आदि आदि साधनाओं को अपना लक्ष्य बनाकर प्रणिधान के द्वारा समाधि-स्थिति को प्राप्त करते हैं। यही सब सूक्ष्म रुप से अभ्यास का विषय है। हमने एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी है जिसका नाम है 'मन की एकाग्रता के साधन' उस पुस्तक का अध्ययन करके इस विषय को भली प्रकार समझ सकते हैं; इसके अतिरिक्त मनो निग्रह का दूसरा उपाय है वैराग्य। और वह वैराग्य दो श्रेणियों के अन्दर विभक्त है पर और अपर। इसमें से ऊपर वैराग्य को वंशीकार संज्ञा वैराग्य के नाम से योगदर्शन में बताया गया है। यथा:

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य
वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।।

इस सूत्र पर पढ़िये व्यास भाष्य–

स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्य्यमितिद्रष्ट विषयवि-तृष्णस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्ता वानु-श्रविकविषये वि-तृष्णस्य दिव्य दिव्यविषय सम्प्रयो-गेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसङ्ख्यानवला-दनाभोगात्मिका हेयो-पादेयशून्या वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात् स्त्री, अन्न, पान, भोग, ऐश्वर्य आदि देखे हुए विषय और स्वर्ग विदेह प्रवृति लयत्वादि सुने हुए विषय इन सबके दिव्या-दिव्य भोगों के अन्दर जो साधक वितृष्ण हो गया है जिसको इन्द्रिय लोलिल्य किसी भी प्रकार विचलित नहीं कर सकता ऐसे योगी भी वशीकार संज्ञा वैराग्य वाला योगी समझना चाहिये। कहने का अभिप्राय केवल-मात्र इतना है कि ध्यान-परायण योगी जिसने अपनी वृत्ति को आत्माकार बना लिया है एवं विषयों में हर समय दोष दर्शन करता है, इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है उसकी इन्द्रियाँ बिना लगाम के खुले घोड़ों के समान नहीं चलती प्रस्तुत सधाये हुए घोड़ों की तरह वश में रहा करती हैं। उज्ज्वल से उज्ज्वल आत्मदर्शन करना उनका स्वभाव बन जाता है। वृत्ति को आत्माकार रखना किन्तु इस प्रकार के योगी को भी वासनिक सुख का ज्ञान तो रहता ही है किन्तु वह ज्ञान भी न रहने के बराबर है। लोकपावन अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद गीता में इसी बात को समझाते हुए बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।
गीता 2:59

अर्थात् कोई मनुष्य अधिक समय तक भूखा प्यासा पड़ा रहे तो उसकी विषय वासनायें दब जाती हैं किन्तु उसके मन में रस की भावना थोड़ी-सी तो रहती है। वह उच्चतम् साधना करते हुए भी इस बात को अवश्य जानता है कि भोग में यह आनन्द हुआ करता है। यही उसकी रस भावना है। यह रस भावना मनुष्य के मन में तब तक रहती है जब तक उसको पर-दर्शन प्राप्त नहीं होता। पर-दर्शन प्राप्त हो जाने पर रस की भावना भी नष्ट हो जाती है अर्थात् उस योगी को यह ज्ञान ही नहीं रहता कि भोग में भी कुछ आनन्द हुआ करता है। वशीकार संज्ञा वैराग्य का अभ्यासी योगी स्वर्गादि लोक लोकान्तरों को देखता है। देवाङ्गनाओं के बड़े-बड़े दिव्य चमत्कारिक दृश्य उसके सामने आते हैं। किन्तु उसके मन पर एक दृश्य देखने के अतिरिक्त कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता— हमारे इतिहास इस बात को बतलाते हैं। ऐसे उच्च स्थिति वाले योगियों पर किसी भी प्रकार से वासना ने अपना प्रभाव नहीं डाला एवं वह अपने स्वरूप में ज्यों के त्यों स्थित रहते थे। वशीकार संज्ञा वैराग्य का अभ्यास योगी ज्यों ही वितर्गानुगत विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत योगी सम्प्रज्ञाता योग की श्रेणियों में से निकलता हुआ आगे बढ़ता है तो प्रकृति की उलझनें उसको विचलित नहीं करती। किसी भी गुणाधिकार वाली वस्तु में मन लगाना ही पर वैराग्य कहा गया है। पर वैराग्य समझने के लिये भगवान पतंजलि देव ने एक सूत्र की रचना को पढ़िये वह सूत्र और उस पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ-

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्।

व्यास भाष्य—

दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुष-दर्शना भ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायित-बुद्धि-गुणे-भ्यो व्य-क्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति तद् द्वयं-वैराग्यं, तत्र यदुत्तरंतज्ज्ञानप्रसादमात्रं यस्योदये प्रत्युदितख्या-तिरेवम्मन्यते, प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः क्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति, ज्ञानश्चैव पराकाष्ठा वैराग्यप्, एतस्यैव हि नान्तरी-यकं कैवल्यमिति।।

अर्थात् निरन्तर पुरुष दर्शन के अभ्यास से देखे और सुने विषयों के अन्दर पुरुष वैराग्य को प्राप्त होता है। इसी का नाम शुद्धि है। स्थूल और सूक्ष्म गुण धर्मों को बुद्धि जब छोड़ देती है तभी समझ लेना चाहिये कि इसको वैराग्य हुआ। वशीकार संज्ञा नाम के वैराग्य का वर्णन पहले कर ही दिया है उसके अतिरिक्त यह दूसरा वैराग्य जिसको पर वैराग्य कहते हैं, ज्ञान का प्रसाद मात्र है। जिसके प्राप्त हो जाने पर योगी मानता है कि प्राप्त प्रापणीयं क्षीणः क्षेतव्याः क्लेषाः अर्थात् हमने जो प्राप्त करना था प्राप्त कर लिया क्षीण करने लायक क्लेषों को क्षय कर दिया— छिन्न, श्लिष्टपरवाभ-वंशक्रमः पोरी दर पोरी जुड़ा हुआ संसार चक्र मैंने काट दिया जिसके न काटने से बार-बार जन्मना मरना पड़ता था, इसी का नाम ज्ञान की पराकाष्ठा एवं पर वैराग्य है। इसका अभ्यास बढ़ जाने पर योगी का मन अपने आप ही रुक जाया करता है। जिन वस्तुओं में हमारी घृणा है उनमें मन स्वाभाविक ही नहीं जाता यही दो मनोनिरोध के उपाय हमारे आचार्यों ने वर्णन किये हैं, जिनके प्राप्त हो जाने पर साधक कृतार्थ हो जाता है। जो लोग अभ्यास परायण बने रहते हैं उनको वैराग्य भी अनायास हो प्राप्त होता है। मनोनिरोध होने पर ही मनुष्य सुख एवं शान्ति को प्राप्त कर सकता है यही उसके सुख का मूल साधन है।

विभूतिपाद की विभूतियाँ (प्रथम)

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भिन्न-भिन्न समयों पर 'सिद्धयोग' में प्रकाशित होने वाले हमने अपने लेखों में यह भली-भाँति समझाने का प्रयत्न किया है कि सिद्धियों का आधार संयम है। संयम सिद्ध हो जाने पर ही योगी को सकल सिद्धियाँ उपलब्ध होती है। योग-दर्शन के विभूतिपाद में भगवान पतंजलि देव ने जिन-जिन सिद्धियों का जिक्र किया है वे सब संयम पर आधारित है। इससे पहले कि मैं सिद्धियों का वर्णन करूँ 'संयम' का अर्थ समझा देना परमावश्यक है। संयम की परिभाषा लिखते हुए भगवान पतंजलिदेव अपने एक बहुत छोटे से सूत्र में लिखते हैं-

त्रयमेकत्र संयमः।।

इस सूत्र पर श्री व्यास भाष्य की पंक्तियाँ निम्नांकित हैं :

एक विषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते तदस्थ त्रयस्थं तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति।

अर्थात् धारणा ध्यान समाधि तीनों साधनों का एक लक्ष्य में लक्षित हो जाना ही संयम की सही परिभाषा है। इस बात को इस प्रकार से समझ लेना चाहिए। जैसे एक नया साधक ज्योंहि योगाभ्यास करना आरम्भ करता है उसके सामने पहला लक्ष्य रहता है धारणा को सिद्ध करना। साधक धारणा को सिद्ध करने को कोई अभ्यास आरम्भ करता है तो धारणा के लक्षीभूत किसी एक देश को अपने चिन्तन का आधार बनाता है। धारणा का लक्ष्य भी बतलाते हुए भगवान पतंजलि देव के लिखा है-

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।।

अर्थात् किसी एक लक्ष्य में अपने चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेवजी धारणा की परिभाषा समझते हुए धारणा स्थलों का निर्देश इस प्रकार करते हैं:

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाऽग्रइत्येव मादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्तिमात्रेणबन्ध इतिधारणा।

अर्थात् जिस समय साधक धारणा का अभ्यास करना आरम्भ करे तब वह मन के चिन्तन से ही धारणा के लक्ष्य को केन्द्रित करें। और योगाचार्यों के अनुभूत स्थान नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धाज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र, जिह्वामूल आदि-आदि हैं। जिस समय कोई भी योगी साधक उपरोक्त धारणा स्थलों को लक्षित केन्द्र बनायेगा तो वहां का सब दृश्य धीरे उसके सामने आने लगेगा, एवं उसका सर्वार्थक मन धारणा स्थल में एकाग्र हो जायेगा। धारणा का फल है मन की ताकत का बढ़ जाना। भगवान् पतंजलि देव स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं-

धारणांसु योग्यता मनसः।

धारणा मन को ध्यान करने लायक बल दे देती है। किन्तु अभ्यासी साधक को धारणा के विषय में सफल लाभ करने के लिए यह याद रखना चाहिए कि वह धैर्य को न छोड़े। यह इस प्रकार का कोर्स है, यदि साधक इसको परिपक्व कर डालेगा तो आगे की भूमिकाओं में उसको कुछ भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। भगवान् पतंजलिदेव इसके बारे में निर्देश करते हैं कि-

सतु दीर्घकालनेरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़-भूमि।।

अर्थात् एक अभ्यास को परिपक्व करने के लिए उसको लम्बे समय तक करते ही रहना चाहिए। ताकि वह परिपक्वता पा जाये। और यह भी परमावश्यक है कि उस अभ्यास में अभ्यास करने वाले साधक की

परिपक्व निष्ठा हो अर्थात् उस ही साधन को अपना उत्कृष्ट लक्ष्य बनावे। साधन के प्रति साधक के मन में आदर बुद्धि रहनी चाहिए। और जिस समय अभ्यास आरम्भ करे उसको लगातार आदर पूर्वक लम्बे समय तक करता चला जाए। ऐसा करने पर ही साधक ध्यान-धारणा आदि के परिणाम को समझ सकेगा। साधक ज्यों-ज्यों धारणा के अभ्यास को परिपक्व बनाता चला जायेगा त्यों-त्यों वह धारणा ही ध्यान के रूप में बदलती चली जायेगी। धारणा का अभ्यास इतना परिपक्व हो जायेगा कि चिन्तन-मात्र से ही मन धारणा में अपने आप केन्द्रित होने लगेगा। यह अभ्यास ज्योंहि पूर्णता को प्राप्त हो जायेगा त्योंहि वह परिवर्तित धारणा ध्यान बन जायेगी। ध्यान का लक्षण बतलाते हुए योगदर्शन में लिखा गया है-

तत्रप्रत्यैकतानता ध्यानम्।।

अर्थात् धारणा के लक्षीभूत विषय में तैल धारा वतत् मन का सतत् प्रवाहित होना ध्यान कहलाता है। अब पढ़िये श्री व्यासदेवजी की व्याख्या-

तस्मिन देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैक-तानता सदृश: प्रवाह: प्रत्यान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।।

अर्थात् लक्षित विषय में मन का विघ्नबाधा रहित लगा रहना ही ध्यान कहलाता है। विशेषता इसमें यह होगी कि साधक धारणा काल में धारणा के विषय का चिन्तन मन की कल्पना से करता था ध्यान में वही विषय रूहानी आँखों से प्रत्यक्षवत् स्पष्ट दिखाई देने लगेगा। साधक अपनी बाह्य चेतना से बिलकुल शून्य हो जायेगा। और अन्तर जगत् में लीन होकर के भीतरी दृश्यों को बराबर देखता रहेगा। योगी साधक का ध्यान जब परिपक्व हो जायेगा तब यह ध्यान ही अपने आप उस रूहानी सद्गुरु-परमात्मा की कृपा से समाधि रूप में बदल जायेगा। समाधि का अर्थ है-

तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधि:।

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मके-नस्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावा-वेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।

अर्थात् ध्यान ही ध्येयाकार में परिवर्तित होकर समाधि का रूप धारण कर लेता है इसमें कोई दूसरा प्रत्यय सामने नहीं आता। विशेषता केवलमात्र इतनी ही है कि ध्यान करने वाला साधक स्वयं ध्येयाकार में बदल जाता है। जैसे किसी साधक ने श्रीराम का ध्यान करना प्रारम्भ किया और वह ध्यान में दिखने लगे। कालान्तर में अभ्यास के बढ़ते-बढ़ते स्थिति इस प्रकार की सामने आ जायेगी कि साधक स्वयं को श्रीराम देखने लगेगा। वह अपने बाह्य बोध को बिल्कुल भूल जायेगा। और अन्तर जगत में अपने देवदत्त हरिदत्त बाह्य नामों को भूलकर अन्तर्जगत में 'मैं राम हुं' इसी का उसको बोध होगा। शनै: शनै: बढ़ते हुए समाधि की यह स्थिति आ जायेगी कि 'श्री राम' की सकल सिद्धियां उसके आगे-पीछे घूमने लगेंगी और वह साधक समझने लगेगा कि यह सिद्धियाँ और की नहीं प्रत्युत मेरी अपनी ही हैं। श्रीराम का चिन्तन करने वाले भक्तजन उसको अपने चिन्तक दिखाई देने लगेंगे। यही समाधि की सिद्धि है। इसी की तान्त्रिकी परिभाषा संयम कहलाती है। धारणा ध्यान और समाधि तीनों में साधक प्रत्यान्तरेण अपरामृष्ट होकर लक्ष्यीभूत विषय में ही स्थिर रहता है तो समझ लेना चाहिए कि उसको संयम सिद्ध हो गया। यह संयम समाधि का ही प्रत्यान्तरेण अपरामृष्ट शुद्ध रूप है। जो साधक लगातार दो या तीन वर्ष तक संयम का उत्कृष्ट अभ्यास कर लेते हैं तो समझ लेना चाहिए कि उन्होंने संयम पर जय प्राप्त कर ली। संयम पर जय प्राप्त कर लेने से समाधि प्रज्ञा स्वत: ही प्रगट हो जाती है अर्थात् उत्तरोत्तर समाधि प्रवाह स्वच्छ बहने लगता है। भगवान् पतंजलिदेव लिखते हैं:-

तज्जयात् प्रज्ञालोक:!

अर्थात् संयम सिद्ध हो जाने पर प्रज्ञालोक हो जाता है या बुद्धि-प्रकाश हो जाता है।

श्री व्यासदेवजी की पंक्तियाँ-

तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भव-त्या-लोक: यथा यथा संयम-स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधि प्रज्ञा विशारदी भवति।

अर्थात् संयम जय हो जाने पर समाधि प्रज्ञा का उत्कर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाता है। संयम स्थिरपद अर्थात् पूर्णतया दृढ़ हो जाता है। स्थिति-प्रवाह बिल्कुल निर्मल होता चला जाता है। अभ्यास के बल से जब साधक इस प्रकार की स्थिति को उपलब्ध कर लेता है और पूर्णतया समझ लेता है कि मेरा संयम सिद्ध हो चुका है तब वह उपलब्ध स्थिति वाला योगी अन्यान्य भूमिकाओं में संयम का उपयोग करें। श्री पतंजलि ऋषि लिखते हैं-

तस्य भूमिषु विनियोगः

इस सूत्र पर व्यास भाष्य-

तस्य संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः, नह्यजिताधरभूमि-रन्तर भूमि बिलङ्व्य प्रान्त भूमिषु संयमं लभते तद्भावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञाऽऽलोकः, ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तर भूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्त ज्ञानादिषु संयमा युक्तः, कस्मात् तदर्थ स्यान्यत एवावगतत्वाद् भूमेरस्या-इयमनंतरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः, कथम् एवं मुक्तं-

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्।।

अर्थात् पहले-पहले योगी अपने अभ्यास बल से संयम को सिद्ध करता है तो साधक के मन का लगाव उन पहली भूमिकाओं में अधिक रहता है जिनमें अभी तक वह संयम करता रहता है क्योंकि पहली भूमिकाओं में जय प्राप्त किए बिना ज्ञानविषयक बुद्धि का प्रकाश नहीं हो पाता, कदाचित्त साधक यदि ईश्वर की कृपा से उत्तर भूमियों में जय प्राप्त करले तो उसके बाद में निम्न श्रेणी की भूमिकाओं में उसको संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि अधःभूमियाँ जो परिचित ज्ञानादि की हैं वह तो साधक को ईश्वर कृपा से उत्तर भूमिकाओं में जय प्राप्त कर लेने पर निम्न भूमिकायें स्वतः ही सिद्ध हो जाती हैं। साधक संयम कहाँ करेगा इसको सोचने की उसको आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि साधन के उस अपने अभ्यास में उत्तर भूमियाँ अपने आप ही प्रगट होती रहेंगी। क्योंकि योगशास्त्र का ऐसा नियम है कि योगिनी योगएवपाध्याय:

अर्थात् योगाभ्यासी के लिए योग ही उसका गुरु बन जाता है। साधक का तो केवलमात्र इतना रह जाता है कि वह अपने अभ्यास को बढ़ाता, चला जाए ज्यों-ज्यों अभ्यास को बढ़ाता चला जायेगा। त्यों-त्यों उस परम गुरु की कृपा से उत्तर भूमिकायें उसके सामने प्रगट होती रहेंगी। क्योंकि योगाचार्यों का मत है कि योग से योग को जाने। योग से ही योग बढ़ता है जो प्रमाद छोड़कर योगाभ्यास करते रहते हैं वे अवश्य ही समाधि पद को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् पतंजलि देव ने अष्टांग योग का वर्णन किया, यथा-

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि।

किन्तु योग के इन आठ अंगों में यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहर इन पांचों की अपेक्षा धारण, ध्यान, समाधि अन्तरंग अंग हैं। किन्तु यह भी निर्वीज समाधि की अपेक्षा बहिरंग ही हैं। साधक ज्यों-ज्यों निरंतर अभ्यास करता है त्यों-त्यों उसके चित्त में विभिन्न प्रकार के परिणाम होते रहते हैं। जिस समय योगी साधक अपना अभ्यास आरम्भ करता है तो उसका चित्त जो अभी तक सर्वार्थता में लगा था वह एकाग्रता के रूप में बदल जाता है यह उस साधक के चित्त की एकाग्रता परिणाम है। साधक के चित्त का सर्वार्थकता का ज्ञान शान्त हो जाता है और एकाग्रता का ज्ञान उदय हो जाता है। यही शान्तोदित प्रत्यय कहलाते हैं। इसी प्रकार से साधक का चित्त ज्योंहि एकाग्रता परिणाम को खोकर समाधि परिणाम में परिवर्तित होता है त्योंहि योगी के चित्त का समाधि परिणाम कहलाता है इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से समाधि परिणाम का आविर्भाव और निरोध परिणाम का आविर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार परिणित होता हुआ चित्त समाधि की सब भूमिकाओं में धर्मी बन करके परिणिति में आता रहता है। धर्मी का लक्षण भगवान् पतंजलिदेव ने अपने योग दर्शन में इस प्रकार कहा है।

शान्तोदिताव्यपदेश धर्मानुपाती धर्मी।

अर्थात् धर्मी वह कहलाता है जो भूत-भविष्य-वर्तमान में बराबर अनुगमन करता रहे उदाहरण के लिए इस बात को ऐसे समझना चाहिए जैसे घट-पट आदि परिणामों के अन्दर धर्मी मिट्टी कायम रहती ही चली जाती है। उदाहरणार्थ इस प्रकार समझिये-जैसे कुम्हार ने खोदकर कुछ, मिट्टी ली और पानी मिलकर उसका गोला तैयार कर लिया अब यहाँ पर मिट्टी धर्मी है और वह मिट्टी गोला रूप धर्म परिणाम में बदल गई। उस गोले को कुम्हार ने एक मटके के रुप में बदल दिया। अब वही मिट्टी जो गोला रूप धर्म परिणाम में परिवर्तित हुई थी। अब वह मटके के रूप में बदल गई यह उसी धर्मी मिट्टी का मटका रुप धर्म परिणाम है। मटका पका लिया गया फिर उसको तोड-फोडकर ठिक्कड बना लिया गया। मिट्टी घड़े में मौजूद थी और ठिक्कारों में भी, केवल उसके परिणामान्तर होते रहे। जब मिट्टी मटके के रुप में आई थी तब उसका नया मटका पुराना मटका कहकर अवस्था परिणाम था। लम्बे गले का मटका आदि-आदि लक्षण परिणाम था। इन तीनों परिणामों के अन्दर मिट्टी धर्मी रूप से सभी जगह कायम रही उसने कोई अन्तर नहीं आया चाहे वह मटका बनी, सिसोरा बनी, ठिकरा बनी, ठिकर टूट जाने के बाद मिट्टी का चूरण बन गया। मिट्टी वही मिट्टी रूप में आ गई। इसी प्रकार से हमारे चित्त में एकाग्रता परिणाम समाधि परिणाम एवं निरोध आदि परिणाम हुए, धर्मी चित्त अपने विभिन्न परिणामों में अन्याय एकाग्रता आदि धर्मों के अन्दर परिवर्तित होता रहा। केवलमात्र निर्बीज समाधि के अन्दर जाकर जड़-चेतन की गाँठ टूट जाने पर आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जायेगी और चित्त उससे अलग होकर उसके गुणों में अवस्थान हो जायेगा। चित्त का एक क्रम से दूसरे क्रम में बदल जाना ही परिणामान्तर का हेतु है। ज्यों-ज्यों साधक अपने अभ्यास को बढ़ाकर विवेक ज्ञान को निर्मल कर लेता है तब उसके चित्त में सभी कुछ ग्रहण कर लेने की योग्यता बढ़ जाती है। वह जहाँ जहाँ अपने चित्त को संयमित करता है वहाँ वहाँ का ज्ञान तत्काल प्राप्त कर सकता है। अब योगी की इच्छा है कि वह अपने सधे हुए चित्त को कहाँ-कहाँ लगायेगा, उसने प्रकृति का कितना अध्ययन करना है। कितनी प्रकार की सिद्धियाँ को उपार्जित करना है। जिस प्रकार से एक अध्ययन करने वाले छात्र ने पढ़ते पढ़ते अपने बुद्धि बल को इतना बढ़ा लिया है कि वह जिस विषय को पढ़ना आरम्भ करता है उसको उसकी बुद्धि तत्काल ग्रहण कर लेती है। और वह थोड़े से समय में उन विषय का भी विद्वान बन जाता है यदि वही विषय किसी अनपढ़ गंवार के सामने कहा जाय तो उसकी बुद्धि उस विषय को बिल्कुल भी ग्रहण न कर पायेगी, और न वह यह समझ पायेगा कि उसको क्या कहा जा रहा है। यह तो है बाह्य कोष के अध्ययन की बात। योगी भीतर की पढ़ाई पढ़ता है उसने भीतरी विज्ञान का अध्ययन करके अपनी रूहानी शक्तियों को प्राप्त करना है, और अपने आपको पूर्ण युक्त योगी बनाना है। युक्त योगी का लक्षण श्रीमद्भगवद्गीता में अखिल आत्मा भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी सम लोष्ठाष्मकांचनः।
गीता 6:8

युक्त योगी का लक्षण अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि जो योगी अपने संयम के आधार पर प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे लोग ज्ञान तृप्तात्मा बन जाते हैं। ऐसे योगी पंच महाभूतों पर विजय प्राप्त करके भूतजयी होकर पंच महाभूतों पर पूर्ण अधिकार रखते हैं। उनके शरीर पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश अपना किसी भी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं डालते प्रत्युत योगी अपने मनोबल से भूतजयी होकर अपने शरीर में जैसे भी परिणाम पैदा करना चाहे कर लेता है। यह तो रही प्रकृति पर अधिकार की बात, इसके अतिरिक्त अपने विकास की ओर बढ़ता हुआ योगी शीघ्राति-शीघ्र आत्मबल से पूर्ण होकर प्रचण्ड भास्कर की तरह चमकने लगता है। अब उसका आत्म विज्ञान पर पूरा अधिकार है वह विकार रहित स्थिति में

पहुंच गया है। इन्द्रियां पूरी-पूरी नियन्त्रण में हैं। ऐसे योगी की दृष्टि में लोहा, सोना, पत्थर सब सामान्य हैं वह किसी प्रकार के प्रलोभन में नहीं आता। क्योंकि वह आत्मिक कोष को पूर्णरूपेण प्राप्त कर चुका है। उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। वह सब प्रकार से परिपूर्ण युक्त योगी है। प्रकृति के जिस प्रकार के ऐश्वर्य को वह प्राप्त करना चाहे तो क्षणमात्र के चिन्तन से ही प्राप्त कर सकता है। योगदर्शन के विभूतिपाद में योगियों को प्राप्त कुछ विभूतियों का वर्णन किया गया है। संयम सिद्ध योगी अपने संयम के बल से संयम करके किन-किन सिद्धियों को प्राप्त कर लिया करता है इसका थोड़-सा उल्लेख इस लेख के उपसंहार में कर देना ही उचित समझता हूँ। इससे आगे के लेखों में मैं समझता हूँ और भी इन विभूतियों को खोलकर बतलाया जाए जिससे पाठकगण अपने मनोबल को बढ़ाकर अपने आत्मधन से धनी बन जायें। भगवान पतंजलिदेव चित्त के तीन परिणामों में संयम करने का दिग्दर्शन कराते हैं।

परिणाम त्रय संयमादतीतानागतज्ञानम्

योगी जिस समय चित्त के धर्म, लक्षण, अवस्था आदि के स्थानों में संयम करता है तो उसको अतीत और अनागत ज्ञान प्राप्त हो जाता है। व्यास भाष्य की वार्तिक पढ़िये-

धर्मलक्षणावस्थापरिणामेषु संयमाद् योगिनाम् भवत्यतीतानागतज्ञानम् धारणा ध्यान समाधि त्रय-मेकत्र संयम उक्तः, तेन परिणामत्रय साक्षा-क्रियमा-णमतीतानागतज्ञानं तेषु संपादयति।

अर्थात् धर्मी चित्त के अनेकों धर्म परिणाम होते रहे अब ये धर्मी चित्त इस समय एकाग्रता परिणाम वाला है क्योंकि इसकी प्रकृति शान्त दिखलाई देती है, यह चित्त का लक्षण परिणाम है। यह चित्त बहुत पुराने समय से एकाग्रता को प्राप्त हुआ है और इसकी अवस्था उत्तरोत्तर ज्ञान मय है यह चित्त का अवस्था परिणाम कहा जाता है। जिस समय योगी चित्त के इन तीन परिणामों के अन्दर संयम करता है तो उसको भूत भविष्य का ज्ञान होने लगता है। चित्त की निर्मलता एवं अभ्यास के बल से चित्त के अवशेष धर्मों को जो उसमें वर्तमान रहे हैं जाना जाता है। यह तो रही योगी के आत्म विकास की शक्ति-वैसे लोक में भी चित्त के लक्षणों को पहचान करके भली प्रकार से जान जाते हैं कि उसके मन में क्या छुपे हुए भाव हैं। जैसा कि नीतिशास्त्र में कहा गया है।

आकारैरैगतैर्गत्या चेष्टया भाषणे न च।
नेत्रवक्त्र विकारैश्च ज्ञायते अन्तर्गतं मनः।।

अर्थात् आकृति से इंगितों से चलने-फिरने की गति से हरकतों से अन्तर्गत मन का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान तो साधारण व्यक्ति को भी हो ही जाया करता है, किन्तु चित्त शुद्धि से होने वाला ज्ञान परम शुद्ध भ्रान्ति रहित शुद्ध ज्ञान होता है। वही ज्ञान सिद्धियों का रूप धारण कर लेता है। इस छोटे से लेख में हमने संयम का प्रकार समझाकर योगी को होने वाले अतीत अनागत ज्ञान को समझाया पढ़ने वाले साधकगण इस लेख को पढ़कर यदि अपने आत्मिक कोष को प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे तो बहुत ही भला होगा।

विभूतिपाद की विभूतियाँ (द्वितीय)

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने इससे पहले 'सिद्धयोग' के गत अंक में विभूतिपाद' की विभूतियां नामक लेख प्रकाशित कराया था। उस लेख-धारणा, ध्यान, समाधि एवं संयम की परिभाषा को समझा कर संयम करने की विधि का उल्लेख किया था। संयम करने से उपलब्ध स्थिति प्राप्त होने पर संयम का परिणाम साधक के सामने अवश्य अवश्य आ जाया करता है। मनुष्य को भूत भविष्य का ज्ञान किस प्रकार से प्राप्त होता है इस बात को समझाने के लिये भगवान् पतंजलिदेव ने अपने योग-दर्शन के विभूतिपाद के एक सूत्र का उल्लेख किया है। वह सूत्र यह है:-

परिणाम त्रय संयमादतीतानागत ज्ञानम्।।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियां इस प्रकार से हैं-

धर्म लक्षणावस्था परिणामेषु संयमाद् योगिनां भवत्यतीतानागतज्ञानं धारणा ध्यान समाधित्रयमेकत्र संयम उक्तः, तेन परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमण मतीता नागतज्ञानं तेषु सम्पादयति।।

अर्थात् धर्म लक्षण अवस्था इन तीन परिणामों में संयम करने से अतीत एवं अनागत ज्ञान योगाभ्यासी साधक को होता है। यहाँ पर भगवान पतंजलिदेव ने अतीत अनागत का नाम इसलिये लिया क्योंकि वर्तमान काल का ज्ञान तो प्रत्येक साधक को प्रतिक्षण होता ही रहता है। संयम के आधार पर ज्ञान का विषय तो अतीत अर्थात् गुजरा हुआ एवं अनागत जो भविष्य में आने वाला है, ही है। गुजरे हुए समय के अन्दर हम किन-किन योनियों में से निकले, क्या दु:ख और सुख भोगे, कौन-कौन मित्र प्यारे और कुटुम्बीजन मिले; यह सभी कुछ विषय चित्त के अन्दर वर्तमान रहने वाले धर्म लक्षण एवं अवस्था परिणामों से जाने जा सकते हैं। हमने अपने पिछले लेख में यह समझाया था कि धारणा ध्यान व समाधि जब तीनों ही अपने एक विषय में लब्धस्थित होते हैं बस उसी समाधि का नाम संयम बन जाता है। चित्त के अन्दर जो संस्कार घूमा करते हैं वह संस्कार मनुष्य की आकृति पर भी टपकने लगते हैं, किसी के चित्त में क्या भाव हैं इसको हर व्यक्ति नहीं जान सकता और न ही समझा सकता है फिर भी चित्त के अन्दर घूमने वाले भाव मनुष्य की आकृति पर झलकने अवश्य लगते हैं। नीति-शास्त्र का चयन है:-

आकारैरिंगतैगत्या चेष्टया भाषाणेश्च नेत्र वक्त्र विकारेच जायते अन्तर्गतंमन:।

अर्थात् मनुष्य की आकृति से, इशारों से, चलने-फिरने से, हरकतों से, बोलने से, आँख मुँह के विकारों से भी मनुष्य के भीतर के भावों का हर व्यक्ति को ज्ञान हो जाता है। यदि मनुष्य अपने मन में किसी के प्रति क्रुद्ध है तो उसका कोध्राभिनय उसके मस्तिष्क पर झलकने लगता है। यह तो हुई लौकिक बात, मनोविज्ञान के विद्यार्थी ऐसे हाव-भावो को देखकर पहचान जाया करते हैं और वह कहने लगते हैं आज आप उदास हैं पता नहीं आपके मन में क्या भाव घर कर गये हैं। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति उल्लासित दिखाई देता है तो उसके अन्तर्गत हर्ष का ज्ञान हर व्यक्ति को हो जाता है और लोग पूछा करते हैं कि आज तो आप बहुत प्रसन्न मालूम देते हैं, क्या मिल गया है हमें भी बताओ।' जब इस प्रकार से चलने-फिरने की हरकतों से साधक का भूत भविष्य का ज्ञान

हो जाता है तो फिर एक योगी को जो अपने चित्त के सूक्ष्म संस्कारों के अन्दर संयम करेगा और जिन संस्कारों का उपभोग उसका चित्त अभी तक कर रहा है उसके फलस्वरूप भूतकाल में गुजरे हुए संस्कार- अच्छे हैं या बुरे जैसी भी हैं उस के सामने आने लगते हैं और वह यह जान जाता है कि हमारा यह चित्त अथवा अन्य सभी का चित्त किन-किन स्थितियों में से निकलकर आया है।

इस समय हम किस प्रकार के संस्कारों का उपभोग कर रहे हैं और यह संस्कार कब तक हम भोग पायेंगे, यह सब बाते चित्त की भावी परिणितियों को देखता हुआ योगी चित्त के अन्दर होने वाले अनागत ज्ञान को भली प्रकार से समझ जाता है लेकिन तब ही समझ पाता है जब वह चित्तके अन्दर गुजरने वाले धर्म, लक्षण एवं अवस्था आदि परिणामों को भली प्रकार जान ले।

सभी प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान

योगी का संयम ज्यों-ज्यों अभ्यास के बल से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होता चला जाता है त्यों-त्यों वह जिस जिस विषय को अपने संयम का आधार बनाता है त्यों-त्यों संयम के आधारित विषयों का ज्ञान उसको बिल्कुल स्पष्ट होने जगता है। भगवान् पतंञ्जलिदेव अपने एक सूत्र में सभी प्राणियों की बोलियों का ज्ञान कराने वाले विषय को इस प्रकार लिखते हैंः-

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतरोध्यासात्संरस्तकत्प्र विभाग संयमात्सर्वंभूतस्तज्ञानम्।

अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान यह तीनों मिले हुए रहते हैं। इसी कारण से मनुष्य किसी की भाषा का ज्ञान नहीं कर पाता। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों विभागों में संयम करने से योगी को हर प्राणी की बोली का ज्ञान हो जाया करता है। जैसे किसी व्यक्ति ने कहा 'गौ'। इस 'गौ' शब्द के अन्दर तीनों ज्ञान छिपे हुए हैं। गौ एक शब्द भी हैं और गले के लम्बे कम्बल वाली और लम्बे सींगों वाली चार पैरों वाली लम्बे मुख वाली पशु जाति की 'गौ' नाम वाली पशु को 'गौ' कहते हैं। ऐसा ज्ञान मनुष्य के मन में रहा करता है। यह उस 'गौ' शब्द का ज्ञान है अर्थात् गौ शब्द के उच्चारण करते ही मनुष्य की आँखों के सामने 'गौ' के स्वरूप का नक्शा बन करके खड़ा हो जाता है। यही 'गौ' शब्द का ज्ञान है और इसके अतिरिक्त गौ सत्ता में विद्यमान चार पावों वाला पशु ही 'गौ' शब्द का अर्थभूत पशु है। यह हैं एक 'गौ' शब्द के तीन न्यारे-न्यारे भाग। जिस समय योगी संयम को सिद्ध करके शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीन विभागों में मन को अलहदा-अलहदा संयमित करता है तो उसको प्राणोमात्र की भाषा का ज्ञान अनायास होने लगता है। दूसरा इस विषय को इस प्रकार समझ लीजिये कि योगी का चित्त जिस समय संयमित होने लगता है उस समय योगी का चित्तरज से निकलकर तैजस भावों वाला होता है। तैजस भावों वाला चित्त जिस समय जिस किसी विषय को अपने चिन्तन का विषय बनाता है तो वह विषय-चिन्तनमात्र से ही उसके सामने स्पष्ट होने लगता है। भगवान् पतंजलिदेव ने **'त्रयमेकत्र संयमः'** कहकर के जहाँ संयम को परिभाषा लिखी है वहाँ किन-किन भूमिकाओं में योगी को संयम करना चाहिये इस विषय का भी स्पष्टीकरण किया है। वहां पर व्यास भाष्य में यह बिल्कुल स्पष्ट लिखा है-

ईश्वर प्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधर भूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमा युक्तः, कस्मात्? तदर्थस्यान्यत एवावगपत्वाद भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः,

अर्थात् परम गुरु ईश्वर की कृपा से जो लोग उत्तर भूमियों के संयमित विषय को जान चुके हैं उनको निम्न श्रेणी की भूमिका परचित्त ज्ञानादिकों में संयम की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि उन विषयों का ज्ञान तो साधारण रुप से चित्त के संयमित होने पर हो ही जाता है। इस प्रकार से संयमित चित्त वाला योगी जब कभी भी जिसके शब्द या अर्थ को अपने ज्ञान का विषय

बनाता है, उस समय हृदय में छुपे रहने वाले उस परम गुरु की कृपा से उसको उस विषय का ज्ञान अपने आप ही होने लगता है जैसे गौ ने अपनी लम्बी ध्वनि में 'भाँ ऽऽ' इस शब्द का उच्चारण किया और किसी संयमित चित्त वाले योगी ने उस 'भाँ ऽऽ' शब्द को सुन लिया और वह शब्द ही उसके संयम का आधार बन गया वह योगी यह जानना चाहता है इसने 'भाँ ऽऽ' शब्द क्यों कहा। उस स्थिति में योगी का बढ़ा हुआ अभ्यास ही उस भाँ ऽऽ' शब्द के अर्थ और ज्ञान को प्रकाशित करता है। साधारण रूप से 'भाँ' शब्द एक ही है किन्तु गौ ने उस 'भाँ' शब्द का प्रयोग किन अर्थों को लेकर किया है उसके सूक्ष्म ज्ञान को योगी का संयमित मन ही ठीक रूप से प्रकट करता है। साधक की उस जिज्ञासा को वह आत्मिक गुरु काल की अवच्छेदन गति से परे रहने वाले परतत्व, योगी की उस जिज्ञासा की पूर्ति कर देते हैं। वह योगी यह जान लेता है कि इस गौ ने यह 'भाँ ऽऽ' शब्द किन अर्थों में प्रयुक्त किया है। यह प्यासी है या अपने साथ रहने वाली किसी दूसरी गौ को याद कर रही है या भूखी है। इस प्रकार के अर्थों को संयम के आधार पर योगी भली प्रकार से समझ लेता है। यही है शब्द, अर्थ और शब्द के ज्ञान को प्राणीमात्र की बोली का ज्ञान प्राप्त करना। प्रथम तो योगी अपने संयमित चित्त आधार पर ही जिस वस्तु के तत्व को जानना चाहता है उसको स्पष्ट रूप से जान ही लेता है कदाचित् उसके ज्ञान में कोई व्यवधान है तो वह सर्वत्र व्यापक परमात्मा हर आत्मा में ओत-प्रोत रहने वाला उसको स्पष्ट ज्ञान करा देता है। इस विषय को मैं एक उदाहरण से स्पष्ट करा देना चाहता हूँ। मुझे अभी-अभी अपने एक गुरुभाई श्री गोपालानंदजी की स्मृति आई। उनका चित्त प्रतिक्षण संयमित रहता था। उन्होंने अपने संयम के अभ्यास को खूब परिपक्व कर लिया था। उनके मन में एक लगन पैदा हुई। उन्होंने यह जानना चाहा कि परमात्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार की। यह सोचते-सोचते ही वह समाधिस्थ हो गये। उनका मन तेजस धर्मों से युक्त था। संयमित मन होने पर उनकी आँखों के सामने एक दिव्य प्रकाश आया। उस दिव्य प्रकाश में से एक दिव्य आवाज सुनाई दी और वह आवाज ही वेद को ऋचा बनकर सामने प्रगट हो गई। ऋचा इस प्रकार थी-

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जातः परिरेक आसीत् सदाधार पृथ्वींद्यामुतेमाम् तस्मैदेवायह-विषाविधेमः।

अर्थात् अग्रे हिरण्य गर्भः समवर्ततः स पृथ्वीं उतइमाम्घादाधार स हिरण्य गर्भः जातस्य भूतः एकः परिरासीत कस्मै देवाय हविषाविधेमः अर्थात्-

'सबसे पहले भगवान् हिरण्यगर्भ पैदा हुए वह प्राणीमात्र के पति थे। हिरण्यगर्भ रूप परमात्मा जो एक चमकते हुए गोले के रूप को धारण करके सामने प्रगट हुए थे उन्होंने पृथ्वी व आकाश को अपने अन्दर धारण किया हुआ था वह परमात्मा सुखः स्वरूप एवं प्राणीमात्र का पति है। उस कल्याणकारी देव के लिये हम अपने हृदयों में श्रद्धा धारण करें।' श्री ब्रह्मचारी गोपालानंदजी ने जिस समय इस ऋचा को अपने कानों से सुना उसी समय उस अध्यात्म गुरु परमात्मा की कृपा से सृष्टि का उत्पति क्रम उनके सामने प्रकट हो गया एवं परमात्मा ने सृष्टि किस प्रकार बनाई इसको वह भली प्रकार से जान गये। इस सूत्र पर श्री व्यासदेवजी ने जो अपना भाष्य लिखा है वह भी मैं सुविज्ञ पाठकों के स्पष्ट ज्ञान के लिये लिख देना ही उचित समझता हूँ:

तत्र वाग्वर्णेवार्थवती, श्रोत च ध्वनि परि-णाममोत्रविषयम्, पदं पुनर्नादानुसंहार-बुद्धि-निग्राह्यम् इति, वर्णा एक समयासम्भवित्वा-त्पररस्पररनिग्रहा-त्मानस्ते पदम संस्पृश्यानु-पस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूता-श्चेति प्रत्येकमपद स्वरूपा उच्यन्ते, वर्णः पुररेकैकः पदात्मा सर्वा-भिधानशक्तिप्रचितः सहकारिवर्णान्तर-प्रतियो-

गित्वाद् वैश्वरुप्यमिवापन्न।: पूर्वश्चोरेणोत्तरश्च पूर्वेण विशेषेऽवस्थापित इत्येवं बहवो वर्णा: क्रमानुरोधिनोऽर्थ सङ्केतेनावच्छिन्ना इयन्तएते सर्वा-च्छिन्ना इयन्तएते सर्वाभिधानशक्तिपरिवृत्त गका-रौकार वि-सर्जनीया: सास्नाऽऽदिमन्तमर्थद्योतय-न्तीति, तदे-तेषामर्थसङ्केतेनावच्छिन्नामुपसंहृतध्यनि-क्रमाणां य एको बुद्धिनिर्भासस्तत्पदं वाचकं वाच्यस्य संकेत्यते, तदेकं पदमेक बुद्धिविषय एक प्रयत्ना-क्षिप्तम अभागमक्र-ममवर्ण बौद्धमंन्त्य वर्ण प्रयत्य व्यापारो-परस्थापितं परत्र प्रतिपिपाद-यिषया वर्णेरेवा-भिधीय-मानै: श्रूयमा-णाश्च श्रो-तृभिरनादिवाग्व्य बहारवास-नाऽनुविद्धया लोक-बुद्धया सिद्धवत्संपति-पत्त्या प्रतीयते, तस्य संकेतबुद्धित: प्रविभाग: एतावता मेवञ्जातीय कोऽनुसंहार एकास्थार्थस्य वाचक इति, सङ्केतस्तु पदपदार्थयरिततरेनराध्यासरुप: स्मृत्यात्मको योऽयं शब्द: सोऽयमर्थ: स शब्द इत्येवमितरेतराध्या सरूप: संकेतो भवति, इत्येवमेते शब्दार्थ प्रत्यया इतरेत-राध्यासात्सङ्कीर्णा:-गौरिति शब्दों, गोरित्य-र्थो गौरिति ज्ञानं, य एषाम्यविभागज्ञ: स सर्ववित्, सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिर्वृक्षइत्युक्तेऽस्तीति गम्यते, न सत्तां पदर्थों व्यभिचरतीति, तथा न ह्यसाधनाक्रियाऽस्तीति, तथा च पचतीत्युक्ते सर्व-कारकाणा माक्षेपो, नियमार्थोऽनुवाद: कत्तृकर्म-कारणानां चैत्राग्निनण्डु-लानामिति, द्रष्टं च वा-क्यार्थे पदरचनं श्रेत्रियश्-छन्दोऽधीते, जीवति प्राणान् धारयति तत्र वाक्ये पदार्थाभिव्यक्ति: तत: पदं प्रविभज्ल व्याकरणीयं क्रियावाचक कारक-वाचकं वा अन्यथा भवति, अश्व: अजापय इत्येवमादिषु नामादव्यातसारुप्या-निज्ञातं कथं क्रियार्या कारके वा व्याक्रियेतेति तेषां शब्दार्थ प्रत्ययानां प्रविभाग:, तद् यथा- श्वेतते प्रासाद इति क्रियाऽर्थ:, श्वेत: प्रासादइति कारकार्थ: शब्द:, क्रियाकारकात्मा तदर्थ: प्रत्ययश्च, क-स्मात्? सोऽयमित्यभि सम्बन्धदिकाकार एव प्रत्यय: सङ्केत इति, यस्तु श्वेतोऽर्थ: स शब्द प्रत्ययोरालम्ब-नीभूत:, स हि स्वाभिरवस्था-भिर्विक्रयमाणों न शब्द सहगतो न बुद्धिसहगत:, एवं शब्द एवं प्रत्ययो नेतरेतरसहगत इति, अन्यथा शब्दोऽन्यथाऽर्थाऽन्यथा प्रत्यय इति विभाग:, एवं तत्प्रविभाग संयमाद् योगिन: सर्वभूतरुतज्ञानं सम्पद्यत इति।।17।।

अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान एक दूसरे के साथ मिले हुए के कारण उनका सम्मिश्रण है इसलिए एक शब्द के उच्चारण करने से वह शब्द ध्वनि है ध्वनि आकाश में से पैदा होकर आकाश में विलय हो जाती है किन्तु उस ध्वनि के अन्दर उसका एक ज्ञान भी छुपा हुआ है जिसका एक दूसरे के साथ मिले हुए होने के कारण साधक को आभास नहीं होता कि जो शब्द उच्चारण किया गया है उसमें ज्ञान किस रूप में छिपा हुआ है। जब साधक उनके सम्मिश्रण को हटाकर **'इतरेतराध्यासात्संकर:'** के भाव को छोड़कर शब्द ज्ञान और अर्थ तीनों को विरक्त करके शब्द को शब्द के रूप में और ज्ञान के रूप में एवं अर्थ को अर्थ के रूप में न्यारा-न्यारा दिखता है तो उस साधक के हृदय में न्यारा न्यारा ही ततदर्थ ज्ञान का उदय होता है। इस प्रकार से योगी अब इनके प्रविभागों में संयम करता है तो प्रयोग की हुई वाणी किस अर्थ को लक्ष्य करती है एवं प्रयोग करने वाले का मन किस ज्ञान को लक्ष्य करता है ऐसा करने पर साधक को प्राणीमात्र की बोलियों का- भाषाओं का ज्ञान हुआ करता है किन्तु एक बात को अवश्य याद रखना चाहिये। विभिन्न प्रकार की विभूतियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सिद्धियों के प्रलोभन से साधक अपने आपका प्रलोभन वश पतन न करें। एक साधरण लोकोक्ति है **''एकहि साधै सब**

सधै, सब साधै सब जाय,'' साधक को विभिन्न भूमिकाओं में संयम तभी करना चाहिए' जबकि वह गुरुदेव के द्वारा निदिष्ट भूमिका में अपने मन को पूरी तरह संयमित कर चुका हो। जो साधक अपने लक्षीभूत साधन में पूरी तरह परिपक्वता प्राप्त नहीं करते और एक भूमिका का थोड़ा-सा ज्ञान होने पर दूसरी भूमिका की ओर अपने आपको ले जाया करते हैं वह किसी भी प्रकार अपने लक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते। वह '**इतः भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः**' के नियमानुसार उभयतोभ्रष्ट ही रहते हैं। इसलिये साधक को चाहिये योग की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिये अपनी आधारभित्ति को पूरा-पूरा बल दें। भगवान् पतंजलिदेव के उन शब्दों को याद रखना चाहिये जो उन्होंने सर्वसाधारण के हितार्थ बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में सूत्र रूप में लिख दिये हैं वह सूत्र यह है:-

सः तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारीसेवितो दृढ़भूमि।

साधक अपने अभ्यास में परिपक्व तभी हो पाता है जब वह अपने उस अभ्यास को लम्बे समय तक लगातार नियमानुसार श्रद्धापूर्वक करता रहे। थोड़ी-सी साधना बढ़ जाने पर जो साधक विभिन्न प्रकार के लालचों में पड़ जाया करते हैं एवं विभिन्न प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए कभी उधर कभी इधर लगते हैं, उन्हें अपने लक्ष्य-समाधि की सिद्धि नहीं प्राप्त होती।

हमने अपने इस लेख में पातंजल योगदर्शन के सिद्धान्तानुसार एवं अनुभवी महात्माओं की निजा-नुभूतियों को आधारित करके 'सर्वभूतस्तज्ञानं' के विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। योग विद्या हमारी अमरनिधि है। इसको प्राप्त करके अन्य कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता। आवश्यकता इस बात की हैं साधक उत्साही एवं वीर्यवान हो तो सफलता उसका पूरा-पूरा आदर करती है और वह अपने चरम लक्ष्य को अवश्य अवश्य पा लेता है।

विभूतिपाद की विभूतियाँ (तृतीय)

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने इससे पूर्व अगस्त मास के अङ्क में विभूतिपाद के विभूतियों का वर्णन करते हुए- **'परिणाम त्रय संयमा-दतीतानागत ज्ञानम्'** इस सूत्र पर व्याख्या लिखते हुए साधक धर्म, लक्षण, अवस्था आदि तीन परिणामों के अन्दर संयम करता हुआ किस प्रकार से भूत और भविष्य के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है एवं **'शब्दार्थ-प्रत्ययानामितरेतराध्या-सात्संरस्तकत्प्रविभाग संयमात्सर्वभूतस्यजानम्'** इस सूत्र को लिख करके प्राणीमात्र की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने की विधि लिखी थी एवं लेख के उपसंहार रूप में समझाया था कि प्रत्येक साधक को संयमारूढ़ होने के लिए लगातार नियमानुसार अपने अभ्यास को बढ़ाते रहना चाहिए तभी साधक सफलता की उच्चतम स्थिति को पा सकता है। इससे आगे भगवान पतंजलिदेव साधक अतीतकाल में किन-किन जातियों में जन्म लेता हुआ आया है एवं उन उन जातियों में किस-किस प्रकार के कितने-कितने भोग भोगे हैं; यह, (सब प्रकार का) ज्ञान प्राप्त करने के लिए- संस्कार साक्षात्कार की आज्ञा प्रदान करते हैं, वह सूत्र इस प्रकार से है—

संस्कारसाक्षात्कारणात्पूर्वजाति ज्ञानम्।

विभूतिपाद के इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियां इस प्रकार हैं:

द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः विपाकहेतबोधर्माधर्मरूपाः ते पूर्वभवा-भिसंस्कृताः परिणामचेष्टानिरोधशक्ति जीवनधर्मवद-परिदृष्टाश्चितधर्माः तेषु संयम संस्कार-साक्षात्क्रि-यायै समर्थः, न च देशकालिनमित्तानुभवैर्विना तेषा-मस्ति साक्षात्करण, तदित्थं संस्कार साक्षात्करणा-त्पूर्वजाति ज्ञानमुत्पद्यते योगिनः, परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षा-त्करणात्परजातिसंवेदनम्।

अर्थात् संस्कार दो प्रकार के माने गये हैं एक संस्कार वे हैं जो स्मृति एवं क्लेश आदि के कारण रहते हैं। स्मृतियों के कारण मैंने अमुक जन्म में अमुक प्रकार की जाति में जन्म लिया, अमुक-अमुक कार्य किये। यह संस्कार स्मृति रूप संस्कार कहलाते हैं और इसी प्रकार से अविद्यादि क्लेशों के कारण बनते हैं अर्थात् विषय-वासना रूप एवं धर्माधर्म के कारण एवं सुख-दुःख आदि फलों के उत्पादक रहते हैं। यह संस्कार पूर्व जन्म के ही बने बनाये साधक के मन में प्रकट होते रहते हैं और मनुष्य को प्रेरणा देते रहते हैं। यही संस्कार चित्त के धर्म परिणाम रूप क्रिया वाले, निरोध रूप सामर्थ्यता सहित अर्थात् संयम किया हुआ साक्षात्कार का कारण होता है। किन्तु देश-काल, निमित्त के अनुभव के बिना उनका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। जिस समय योगी देश-काल-निमित्तादि के साथ साक्षात्कार करने की चेष्टा करता है तो उसे अपनी पूर्व जाति का ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। एवं इसी प्रकार से किसी दूसरे पुरुष के चित्त-धर्मों में संयम करने से योगी को उसकी भी पूर्व जाति का ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। व्याख्यान इस बात को इस प्रकार से समझ लेना चाहिए। योगी अपने समाधि काल से पूर्व अपने मन में जब से संस्कार बनाता है कि मैं अपने पूर्व जाति के ज्ञान को प्राप्त करूँ तो देश-काल, निमित्तादि के साथ अपने पूर्वानुभूत एवं भुक्त संस्कारों की ओर अपने संयमित मन को फेंकता है तो अपने आप ही योगी के सामने उन संस्कारों का उद्बोधन होने लगता है क्योंकि उस समय योगी का चित्त फोटो खींचने वाले एक कैमरे के रूप में होता है। वह किन-किन भोगों को भोगता हुआ आया है क्या उसकी जाति थी, उस समय क्या उसके अनुभूतार्थ थे, वह उसकी समाधि में उस परम गुरु ईश्वर के अनुग्रह से प्रकट होने लगते हैं और वह पूर्व जाति के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। इस विषय में योग-दर्शन के सूत्रों पर भाष्य लिखने वाले भगवान व्यासदेवजी ने एक उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार से है।

अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य-संस्कार साक्षात्करणाद् दशसुमहासर्गेषु जन्म-परिणाम-क्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरभवद् अथ भगवान-वटयस्तनुधरस्तमुवाच दशसु महासर्गेषु भव्य त्वादनभि-भूत बुद्धिसत्वेनत्वया नरकतिर्य्यंग-गर्भसम्भवं दु:खं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुन: पुनरुत्पद्यमानेन सुखदु:ख-यो: किमधिकमुपलब्ध-मिति भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच-दशसु महासर्गेषु भव्यत्वाद्नभिभूतबुद्धिसत्वेन मया नरक-तिर्य्यग्भवं दु:खं सम्पश्यतादेवमनुष्येषु पुन: पुनरु-त्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दु:खमेव द्रव्य-वैभि, भगवानावट्य उवाच यदिदमा युष्मत: प्रधान-वशित्वमनुत्तमं च सन्तोषसुखं किमिदमपि दु:खपक्षे निक्षिप्तमिति? भगवान् जैगीषप्य उवाच-विषय-सुखापेक्षयैवेदमनुत्तमं सन्तोषसुखमुक्तं, कैवल्या-पेक्षया दु:खमेव बुद्धिसत्व-स्थायं धर्मस्त्रिगुण: त्रि-गुणश्च प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति दु:खस्वरू-पस्तृष्णा दु:ख तन्तुस्तृष्णा दु:ख सन्ताननापगमात्तु प्रसन्नमबाध सर्वानुकूलं सुखमिदमुक्तमिति।

अर्थात् इस विषय में पुराणों में एक ये कथा सुनने में आती है कि परमेश्वर्ययुक्त भगवान् जैगिषव्य मुनि को संस्कार साक्षात्कार करने से दश महासर्गों के अन्दर होने वाले जन्म परिणाम कर्मों को देखते हुए विवेकज ज्ञान पैदा हुआ। परम ऋषि आटव्य ने जैगिषव्य मुनि से प्रश्न किया कि इन दश महासर्गों के अन्दर भोग-भोगते हुए प्रकाश बुद्धि के द्वारा आपने नरक एवं तीर्यक योनियों में होने वाले गर्भ के दु:ख को साक्षात्कार करते हुए बार-बार मनुष्य देवयोनियों में जाकर क्या किया, क्या प्राप्त किया? इसके उत्तर में भगवान् आटव्य मुनि को जैगिषव्य मुनि ने उत्तर दिया- दश महासर्गों में भोग अवश्म्भावी होने से मैंने अपने प्रकाशमय बुद्धि के द्वारा नरक एवं तीर्थकादि योनियों में बार-बार जन्म के दु:खों को देखते हुए एवं देव-मनुष्य योनियों में बार-बार उत्पन्न होते हुए जो कुछ भी अनुभव किया वह केवल दु:ख ही दु:ख था, यही मैं जानता हूँ। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने पर भगवान् आवटय मुनि ने जैगिषव्य ऋषि मुनि से पुन: प्रश्न किया:- जीवनकाल में इन्द्रियों को वश में करके जो सन्तोष सुख प्राप्त होता है क्या उसको भी आपने दु:ख पक्ष में ही डाल दिया है? इसके उत्तर में भगवान जैगिषव्य मुनि ने कहा विषय सुख की अपेक्षा ही सन्तोषसुख उत्तम है किन्तु कैवल्य सुख भी दु:ख ही है क्योंकि वह त्रिगुण वाली बुद्धि का धर्म है और त्रिगुणात्मक जो ज्ञान है वह त्यागने ही योग्य है क्योंकि इसका कारण दु:ख रूप तृष्णा का तार ही है। अत: सन्तोष सुख भी त्याज्य है। भगवान् व्यासदेव ने जैगिषव्य मुनि के इस उदाहरण को देकर ये भली प्रकार समझा दिया कि एक योगी अपने जन्म-जन्मान्तर से किस प्रकार से साक्षात्कार कर लिया करता है और वह किस प्रकार संस्कारों का साक्षात्कार करके जन्म-मरण आदि दु:खों को जानकर अपने आपको मोहपाश से निकालकर मुक्ति की ओर बढ़ता है। जैगिषव्य मुनि का उदाहरण तो बहुत पुराने इतिहास की बात है। आज भी जो योगी योगाभ्यास परायण हैं वह अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों को देखकर दु:ख-द्वन्द्व को त्यागकर मुक्ति की ओर बढ़ जाते हैं एवं इस दु:ख-द्वन्द्व से छूट जाया करते हैं। वैराग्य का यही एक उत्तम साधन है कि साधक अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों को योग-दृष्टि से देखे एवं उन दु:ख-द्वन्द्वों से अपने को छुड़ाकर कल्याण-मार्ग की ओर बढ़ाये। भाई-बन्धु स्त्री-पुत्र आदि को एक मोह जनित जाल ही समझे। गर्भोपनिषद् में इस विषय को बिल्कुल स्पष्ट करके समझा दिया है। जिस समय जीव गर्भावस्था में हुआ करता है तो उसे परम गुरु ईश्वर की कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है तब वह जीव उस दिव्य दृष्टि को पाकर अपने जन्म-जन्मान्तर के दु:खों को देखकर महाकष्ट पाता है और उन महा-क्लेशों से निकल जाने की घोर प्रतिज्ञायें करता है। यह प्रकरण इस प्रकार है:-

अथ नवमे मासे सर्वलक्षण ज्ञान करण सम्पूर्णो भवति। पूर्वंजातिं स्मरति। शुभाशुभ च कर्म विन्दति। पूर्वयोनि सहस्त्राणि दृष्ट्वा चैन ततो मया। आहार विविधा भुक्ता: पीता नानाविधा: स्तना:। जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुन: पुन: यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।। एकाकी तेन दह्येऽहं गतान्ते फल-भोगिन: अहो दु:खौदधौ मग्नो न पश्यामि प्रति-क्रियाम्। यदि योन्या: प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्।

अशुभक्षयकतार फलमुक्तिप्रदायकम्। यदि योन्या।: प्रमुच्येऽह तत्प्रपद्ये नारायणम्। अशुभक्षयकर्ता-रंफलमुक्तिीदायकम्। यदि योन्या: प्रमुच्येऽहं तत्सा-इख्यं योगप्रभ्यसे। अशुभक्षकर्तारं फलमुक्ति प्रदाय-कम्। यदि योन्या: प्रमुच्येऽह ध्याय ब्रह्म सनातनम्। अथ योनिद्धारं सम्प्राप्तो यन्त्रेणापीडयमानो महता दु:खेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति।।

अर्थात् नवमा मास जब लगता है तब शरीर बनकर पूरा हो जाता है और वह सभी लक्षणों से सम्प्रन्न हो जाता है एवं उस दिव्य दृष्टि को पाकर पूर्व जाति को स्मरण करता है। शुभाशुभ कर्मों को समझता है। अपने पूर्व जन्म की हजारों योनियों को देखकर डर जाता है और अपने मन में कहता है अहो! बड़ा आश्चर्य है मैंने बहुत प्रकार के आहार खाये। नाना प्रकार के स्तनों के दूध पिये, बार-बार जन्मा और मरा। ओह! जो मैंने अपने कुटुम्बियों के लिए शुभाशुभ कर्म किये उन सबके कारण मैं अकेला जल रहा हूँ। वह सब फल भोगी लोग इधर-उधर रहा हूँ। ओह! मैं दु:ख के सागर में डूब गया हूँ। बचने का कोई भी उपाय नहीं दिखाई देता। यदि अबकी बार मैं किसी प्रकार से योनिद्वार से निकल गया तो मैं महेश भगवान की शरण लूँगा। जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश हो जाय और मुझे मुक्ति मिल जाय। यदि मैं अबकी बार योनिद्वार से निकल गया तो भगवान नारायण की शरण लूँगा जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश हो जाय और मुक्ति मिल जाय। यदि अबकी बार मैं योनि द्वार से छूट गया तो मैं सांख्ययोग का अभ्यास करूँगा जिससे मेरे पापकर्मों का नाश हो जाय और मुक्ति मिल जाय। यदि मैं अबकी बार योनि द्वार से छूट गया तो सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा जिससे मेरे पापकर्मों का नाश हो जाय और मुक्ति मिल जाय।

इस प्रकार चिन्तन करता हुआ योनिद्वार को प्राप्त कोल्हू में पेले जाने के समान महान दु:ख को प्राप्त होकर के जन्म लेता हुआ वैष्णवी माया से युक्त वायु का स्पर्श पाकर जन्म और मरण को याद नहीं करता और शुभाशुभ कर्मों को याद नहीं करता है। यही दु:ख का आवरण है किन्तु वैराग्य का कारण भी यही है। योगी अपनी योग दृष्टि के द्वारा भगवान् की त्रिगुणात्मिका माया के कष्टों को अनुभव करके और अपने जन्म-जन्मान्तरों के दु:खों का अनुभव करके दु:ख-द्वन्द्व से छूटना चाहता है किन्तु यह होता उसी स्थिति में है जबकि योगी अपनी योग-दृष्टि के द्वारा अपने पूर्व जन्मों में हुई जातियों का साक्षात्कार करता है। प्रत्यक्षानुभूति के बिना तो यह जाना ही नहीं जा सकता कि कोई पूर्व जन्म था भी या नहीं और आगे हमारा कोई जन्म होगा भी या नहीं। प्रत्यक्षानुभूति के बिना मनुष्य नास्तिक बन जाता है। और इसी जन्म को सुख-दु:ख का कारण समझकर स्वार्थपरायणता में लग जाया करता है। वह दूसरे के दु:खों को नहीं देखता। उसका सिद्धान्त बन जाता है :

'यावज्जीवेत्सुखंजीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं: कुत:।।'

अर्थात् उनका यह सिद्धान्त बन जाता है कि मनुष्य जब तक जीवे सुखपूर्वक जीवे; कर्जा उठाकर घी पीवे। शरीर जलकर भस्म हो जायेगा फिर पुनर्जन्म क्या चीज था।

अत: योग विद्या ही एक ऐसी विद्या है जिसके द्वारा पूर्व जन्म के संस्कारों का साक्षात्कार किया जा सकता है। मैं अपने सभी पाठकों के हितार्थ एक उदाहरण इस प्रकार लिखा देना उचित समझता हूँ जिससे प्रत्येक साधक यह समझ जाए कि पुराने जमाने के जैगिषव्य आदि ऋषि इतिहास के पुराने उदाहरण तो हैं ही किन्तु इस कलिकाल के जमाने में भी इस प्रकार के योगिराज महापुरुष है जिनकी करुणा-कृपा को पाकर मनुष्य भूत-भविष्य का ज्ञाता बन जाता है और वह अपने पूर्व जाति के संस्कारों का साक्षात्कार कर लेता है। इस विषय में मुझे अपने सद्गुरुदेव योगयोगेश्वर प्रभुश्री रामलाल जी की अनेकों अनुकम्पाओं का स्मरण ही रहा है।

श्री ब्रह्मचारी गोपालानन्दजी का एक उदाहरण :

एक समय मेरे गुरुभाई श्री गोपालानन्दजी महाराज अपने योग साधना आश्रम ऋषिकेश के कुएँ पर जल खींच रहे थे। अकस्मात् उनके हाथ से कुएँ पर लगे हुए चरखी की खूँटी छूट गई एवं उनमें लगी हुई कील से उनका हाथ काफी फट गया। उनके फटे हुए हाथ को देखकर वहाँ पर लोगों ने काफी आश्चर्य माना कि ऐसा क्यों हुआ। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी की

महती कृपा से जितने भी वहाँ गुरुभाई-बहन थे वे सब अच्छे ध्यान योग के अभ्यासी थे। उन्होंने श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में प्रश्न किया कि हे प्रभो! भाई ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्दजी उत्कृष्टध्यानी हैं और विवेक ख्याति की ओर तीव्रतम् गति से बढ़ रहे हैं और फिर इतनी उत्कृष्ट स्थिति में भी यह घोर दण्ड क्यों मिला, कृपा कर बतलाइये। श्री प्रभुजी ने उत्तर दिया कि भाई हम क्या बतलायें? तुम सब ऊँचे-ऊँचे ध्यान योग के अभ्यासी हो; अपने अभ्यास में बैठकर के इसके संस्कारों का साक्षात्कार करो, पूर्व जाति का ज्ञान करो और देखो उस जन्म में इसके संस्कार क्या थे और कौन से कठिन कर्म-विपाक के फलस्वरूप इसे यह दण्ड मिला है। श्री प्रभुजी की आज्ञानुसार वहाँ पर जितने अच्छे बड़े-बड़े ध्यानी लोग थे वे सब के सब अभ्यास में बैठ गये और अभ्यास में बैठकर ब्रह्मचारी गोपालानन्दजी के पूर्व जन्म के जाति की छान-बीन करने लगे। शनैः शनैः उन लोगों ने जाना कि ब्रह्मचारी गोपालानन्दजी इस जन्म से पहले जन्म में एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे और मथुरा में यह गऊघाट पर रहते थे। इनकी स्त्री रूप-गुणवती सुन्दर युवती थी। इनके मन में प्रतिक्षण यह भ्रान्ति रहती थी कि यह अपने रूप और यौवन के मद में कहीं कुमार्गगामिनी न हो जाय। यह अपने यजमानों के घर में कथायें कहने के लिए जाया करते थे। एक दिन जब कहीं सत्यनारायण की कथा कहने के लिए गये तो अपनी पत्नी को समझा गये कि तुम गऊ को कुट्टी काट कर चारा डाल देना जिससे गऊ भूखी न रहे किन्तु वह स्त्री गृहकार्यों की व्यस्तता के कारण गऊ को कुट्टी काट कर करके गऊ को चारा नहीं डाला? तो उसने उत्तर दिया- स्वामिन्! मैं घर के कार्यों में व्यस्त थी अब आपकी आज्ञानुसार अभी कुट्टी काट कर गऊ को चारा डाले देती हूँ। किन्तु विप्रदेव के मन में बड़ी शंकायें थीं। वह अपनी रूप शीलवती स्त्री को व्यभिचारिणी समझते थे। यथार्थ में वह वैसी नहीं थी किन्तु इन्होंने क्रोधवश होकर कहा कि तुमने गऊ को कुट्टी काटकर चारा नहीं खिलाया तो क्यों न मैं तुम्हारी ही ऐसी दशा कर दूँ कि तुम कभी-भी कुट्टी न काट सको। यह कहकर उन्होंने अपनी स्त्री के हाथ को गँड़ासे से काट दिया। परिणामस्वरूप उसका हाथ कटकर कुएँ में गिर गया जिसके फलस्वरूप वह तड़प करके मर गई। उसी पाप कृति के फलस्वरूप आज ब्रह्मचारीजी का हाथ काटकर कुये में गिरना था और इनकी मृत्यु होनी थी किन्तु ये विवेक-ख्याति की ओर हैं, इसलिए इनके हाथ में केवल चोट आ गई है, कुछ दिन दुःख रहेगा और फिर ठीक हो जायेगा और वैसे ही हुआ भी। हमारे गुरुभाइयों ने मथुरा में जाकर वहाँ ब्रह्मचारी गोपालानन्द के पूर्व जन्म के स्थान को ढूँढ़ा। गऊघाट के वासी लोगों ने बतलाया कि हाँ! उनके मौहल्ले में कोई रामनारायण पाण्डेय नाम के पण्डित रहते थे और उन्होंने अपनी स्त्री का हाथ काट दिया था जिसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु हो गयी। किन्तु बात बहुत पुरानी है, उनका वह मकान बिक चुका है, कुआँ बर्बाद हो चुका है। उनकी स्मृति का अब कोई चिन्ह अवशेष नहीं है। यह था योग के द्वारा संस्कार साक्षात्कार करके पूर्व जाति का ज्ञान प्राप्त करना। जिस प्रकार मनुष्य संस्कार साक्षात्कार करके पूर्व जाति का ज्ञान कर सकता है, उसी प्रकार मनुष्य समाधि के अभ्यास से जिस समय कि उसको विवेक ज्ञान प्राप्त होता है, जिस समय वह अपने संयमी चित्त को परचित्त ज्ञानादि में संयमित करता है तो उसको तत्काल ही परचित्त ज्ञान हो जाया करता है। भगवान् पतंजलि देव ने इसी विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

प्रत्ययस्य परचित्त ज्ञानम् ।

अर्थात् पर पुरुष की वृत्ति में जिस समय योगी संयम करता है तो योगी को उनके चित्त का ज्ञान हो जाया करता है किन्तु उसका चित्त किस स्थिति में है, यह ज्ञान होता है। चित्त कहाँ अनुरागी है, इसका ज्ञान नहीं होता क्योंकि चित्त का 'अनुराग' उसके संयम का विषय नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करके भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं।

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वाद्।

क्योंकि योगी के संयमित चित्त ने उसके अनुराग को अपने संयम का विषय नहीं बनाया। प्रत्ययमात्र को अपने संयम का विषय बनाया है। इसलिए योगी को चित्तिमात्र से परचित का ज्ञान होता है। यदि योगी उसके अनुरक्त चित्त को अपने संयम का आधार बनाये तो उसके चित्त के अनुरागी धर्मों का साक्षात्कार भी कर सकता है और यह जान सकता है कि अमुक व्यक्ति का चित्त कहाँ अनुरागवाला है और उसके चित्त का विषय काम है, क्रोध है, लोभ है या मोह है। इस प्रकार योगी परचित्त को अपने संयम का विषय बनाकर परचित्त ज्ञानादि भली प्रकार प्राप्त कर सकता है। आवश्यता इस बात की है कि मनुष्य अपने मन को धारणा-ध्यान-समाधि के बल से संयमित बनाये।

विभूतिपाद की विभूतियाँ (चतुर्थ)

योगी का अन्तर्धान

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने अपने 'सिद्धयोग' के सितम्बर मास के अङ्क में संयम के आधार पर साधक को परचित्त ज्ञान किस प्रकार से होता है, इस विषय को भली प्रकार से खोलकर समझाने का प्रयास किया है। संयमित मन को योगी जहाँ लगाना चाहता है वहाँ लग जाया करता है और संयमित मन वाले योगी की बुद्धि सत्य परम निर्मल होने के नाते वह जिस वस्तु का साक्षात्कार करना चाहता है उसका साक्षात्कार उसको संकल्पमात्र से ही हो जाया करता है। आवश्यकता केवल इस बात कि है कि योगी के मन में इस बात का स्फुरण हो जाय कि में अमुक वस्तु को जानना चाहता हूँ। उस संकल्प के आधार पर ही वह योगी उस वस्तु तत्व को जान लेता है क्योंकि उसके मन में उस परम सद्गुरु का प्रकाश भरा रहता है। अत: जहाँ ज्योंहि ही संकल्प का स्फुरण हुआ त्योंहि योगी ने उसे तत्काल जान लिया। इससे पहले लेख में परचित्त ज्ञान के विषय में समझाया गया है। किन्तु इसमें खास बात यह थी कि योगी ने किसी के चितिमात्र चित्त को अपने संयम का लक्ष्य बनाया है। अत: उसे प्रख्यावृत्तिस्थितिशील चित्त का ही साक्षात्कार होगा न कि उस विषय का जिस विषय में वह साधक अनुरागी है। चित्त ज्ञान के संयम के आधार पर तो इतना ही जान पायगा कि अमुक व्यक्ति का चित्त स्वरूप विशुद्ध सत्व स्वरूप है एवं दूसरे व्यक्ति का चित्तस्वरूप प्रवृत्तिरूप राजप्रधान है। इसके अतिरिक्त अमुक व्यक्ति का चित्त स्थितिरूप तमप्रधान है। केवलमात्र इतना ही उस समय योगी के संयम का विषय था। इसके अतिरिक्त योगी यदि यह जानना चाहेगा कि अमुक साधन का चित्त किन क्रियाओं में क्रियान्वित है एवं किन विषयों में अनुरागी है। यदि इस बात को योगी जानना चाहेगा तो वह उसके संयम का दूसरा विषय होगा। न कि चितिमात्र चित्त के ज्ञान से रंजित चित्त को जान सकेगा। इसके आगे के सूत्र में भगवान पतञ्जलिदेव ने अन्तर्धान के विषय को वर्णन किया है। अन्तर्धान क्रिया के विषय में लोगों के मन में बहुत-सी भ्रान्तियाँ है। कितने ही लोगों का विचार है कि अन्तर्धान होता ही नहीं। इस क्रिया को ही गप्प कहकर लोग अपने मन को उपराम कर लेते हैं। भारतवर्ष में अकर्मण्य लोगों का यह एक सिद्धान्त सा बन गया है कि जो विषय उनकी समझ में न आये उसे अपनी मति के अनुसार निश्चय करके एवं उस सिद्धान्त को गलत बतलाकर छोड़ देते हैं। यही बात योगी की अन्तर्धान क्रिया के विषय में भी समझ लेनी चाहिए। किन्तु वस्तुत: शास्त्रीय सिद्धान्त हमारे पूर्वजों की ऋतम्भरा प्रज्ञा का शुभ परिणाम हैं। योगी संप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करता हुआ वितर्कानुगत, विचारानुगत एवं आनन्दानुगत इन तीन श्रेणियों में से निकलकर जिस समय स्मितानुगत योग का विद्यार्थी बनता है एवं निर्वाणोन्मुखी वृत्ति को प्राप्त करता है उस समय उस योगी की बुद्धि में ऋत का वास हो जाया करता है। जब तक साधक इन स्टेजों को तय नहीं कर लेता एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह सिद्धान्त का निर्णायक नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी लोक में यह देखने में आता है कि जिस किसी भी व्यक्ति ने थोड़ी बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली वही अपने आपको सब प्रकार से योग्य एवं सिद्धान्तों का निर्णायक समझ बैठता है एवं अपने प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशील चित्त के साथ लोगों को मार्गदर्शन कराने लगता है। अन्त में पहुँचता उसी लक्ष्य को है यथा- **'अन्धेनी-यमानो यथा अन्ध'** एक अन्धा दूसरे अन्धे की उँगली पकड़कर ले जाता है; रास्ते का ठीक ज्ञान न इसको है न उसको। इसी प्रकार से जो लोग शास्त्रीय सिद्धान्तों को न समझ कर अपनी मति के अनुसार शास्त्र विरुद्ध गलत निर्णय दे देते हैं वे लोग **'अन्धे-नीयमान: यथा अन्ध:'** की उक्ति को चरितार्थ करते हैं।

अन्तर्धान क्रिया के विषय में भगवान पतञ्जलिदेव अपना सत्य निर्णय लिखते है–

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चुक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम्।

अर्थात् जिस समय योगी काया के रूप में संयम करता है तो वह उसकी ग्राह्य शक्ति को रोक लेता है। उसके परिणामस्वरूप देखने वाले की आँखों का प्रकाश उसको नहीं छू पाता। इसके फलस्वरूप योगी अन्तर्धान हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह योगी किसी को भी दिखाई नहीं देता। पढ़िये इस सूत्र पर श्री व्यासदेवजी का भाष्य–

कास्यरूपे संयमाद् रूपस्य या ग्राह्य शक्तिस्तां प्रतिष्टम्बाति ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानमुत्पद्यते योगिनः एतेन शब्दाद्यन्त–र्धानमुक्तं वेदितव्यम्।।

अर्थात् जिस समय योगी काया के रूप में संयम करता है तो अपने मन के दृढ़ संकल्प से उस रूप की ग्राह्यशक्ति को बाँध लेता है। उसके फलस्वरूप देखने वाले की आँखों का प्रकाश कायरूप की ग्राह्य शक्ति के स्तम्भित होने से उसके शरीर पर नहीं पड़ता है ऐसा करने से योगी को अन्तर्धान प्राप्त हो जाता है। इस बात को स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि कृष्णपक्ष की काली अँधेरी रात्रि में कोई तेज पावर का बिजली का बल्ब जल रहा है उस तेज रोशनी की ओर हमारी आँखें चटपट देख लेती हैं और उसको देखकर साधक यह जान जाता है यह बिजली का प्रकाश यहाँ से इतने मील की दूरी पर अमुक गाँव में हो रहा है। कहने वाला मनुष्य चटपट बड़े वेग के साथ कह देता है कि वह प्रकाश इतना तेज था कि उसकी झलक पड़ते ही हमारी आँखें उधर खिंच गईं एवं उसको जान लेने की यह इच्छा प्रबल हो गयी कि हम जानें, यह क्या वस्तु है। यह हुआ साधक का उस प्रकाश के प्रति चक्षुप्रकाशसम्प्रयोग। अर्थात् उस प्रकाश में इतनी अधिक ग्राह्यशक्ति है कि जिसने हमारी आँखों की रोशनी को अपनी ओर आकर्षित कर लिया और हमारी आँखों ने उसको देख लिया। इसी प्रकार से यदि कोई व्यक्ति तेज रोशनी से जलने वाले उस विद्युत बल्व को किसी काले कपड़े, मोमजामे या किसी ऐसी और वस्तु से कि जिससे ढक देने से उसका प्रकाश बाहर न जा सके, उसको ढक ले तो इसका परिणाम यह निकलेगा कि उसकी ग्राह्यशक्ति को रोक देने के कारण वह किसी को भी दिखाई नहीं देगा। यह तो एक उदाहरण है; उदाहरण एकांक्षी हुआ करता है। ग्राह्यशक्ति के स्तम्भन का अर्थ समझने के लिए उदाहरणों के साथ ही उस विषय को स्पष्ट किया जाता है। एक मनुष्य तीव्र प्रकाश वाली टार्च लाइट को हाथ में लेकर चलता है, जब उसको मार्ग देखना होता है तो टार्च के स्विच को दबा देता है उसमें से प्रकाश निकलने लगता है। आँखों के अन्दर भी प्रकाश मौजूद है, आँखों का प्रकाश भी उस प्रकाश पर पड़ा और उसने जान लिया कि मार्ग साफ है। कदाचित् देखने वाले की आँखों में प्रकाश हो ही नहीं तो टार्च लाइट फेंकते रहो उसको कुछ भी दिखाई नहीं देगा। देखने वाले की आँखों में भी प्रकाश हो तभी टार्च की रोशनी दिखाई देगी। क्योंकि टार्च के अन्दर तो ग्राह्यशक्ति मौजूद है– किन्तु आँखों में प्रकाश न होने से नहीं देखा जा सकता है। इसी प्रकार अन्तर्धान क्रिया में जिस समय योगी धारणा के बल से काया के रूप में संयम करता है तो अपने दृढ़ संकल्प से उस रूप की ग्राह्यशक्ति को स्तम्भित कर लेता है, रोक लेता है। उसके फलस्वरूप देखने वाले की आँखों का प्रकाश उसके शरीर पर नहीं पड़ता। इसी के फलस्वरूप वह साधक वहाँ बैठा रहने पर भी किसी को दिखलाई नहीं देता। इसी का नाम अन्तर्धान क्रिया है। संयम सिद्ध योगी के लिए अन्तर्धान होना सहज–सी बात है। अन्तर्धान का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि योगी का शरीर नष्ट हो जाता है या कहीं चला जाता है। चला कहीं नहीं जाता वह मौजूद तो वहीं पर रहता है किन्तु सर्वसाधारण की आँखों का प्रकाश उस पर नहीं पड़ता। इसके फलस्वरूप वह योगी वहाँ पर बैठा हुआ ही छिप जाता है। भगवान् विश्वात्मा श्रीकृष्ण के चरित्रों में यह बात कई जगहों पर पूर्णरूपेण स्पष्ट है कि उन्होंने कई स्थानों पर स्वयं अपने को अन्तर्हित किया और उनके मित्रों का समुदाय उनको ढूँढ़ने की चेष्टा करता रहा किन्तु वह किसी को भी दृष्टिगोचर नहीं हुए। रासलीला का प्रकरण आप लोगों ने पढ़ा ही होगा उसमें अन्तर्धान क्रिया को कितना स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने रास–क्रीड़ा आरम्भ कर दी। अपनी काय–निर्माण शक्ति से अपने हजारों शरीरों का निर्माण किया। जितनी गोपिकायें थीं उतने ही कृष्ण तत्काल दिखाई देने लगे—

अङ्गनामङ्गनान्तरोमाधवो,
माधवं माधवमन्तरेणाङ्गना।
इत्थमाकल्पिते मण्डलेमध्यग:
संजगौ वेणुना देवकीनन्दन:।।

अर्थात् एक-एक गोपी और एक-एक कृष्ण इस प्रकार मण्डलान्वित चक्र में हजारों गोपी और हजारों श्रीकृष्ण दिखलाई दे रहे थे। इस प्रकार रासमण्डल आरम्भ हो जाने के बाद जब उन गोपियों के मन में कुछ अहंकृति के भाव पैदा हुए तो उन सबके देखते-देखते ही काया रूप में संयम करके रूप की ग्राह्य-शक्ति को स्तम्भित करके श्री राधिकाजी को ले करके अन्तर्धान हो गये, जिसके फलस्वरूप ब्रजगोपियों ने बड़ा विलाप किया। थोड़ी दूर चलने पर श्री राधिकाजी को भी छोड़कर अन्तर्धान हो गये। परिणामस्वरूप श्रीराधिका जी एवं सभी ब्रजगोपियाँ बहुत व्याकुल हुईं। शरीर में अत्यन्त दु:ख हुआ तो भगवान उनके बीच में ही प्रकट हो गये—

तासामाविर्भूच्छौरी: स्मयमान्मुखाम्बुजा:।
पीताम्बरधर: श्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथ:।।

अर्थात् कामदेव को मथन करने वाले श्रीकृष्ण पीताम्बर और माला पहने हुए उन सबके बीच ही प्रगट हो गये। यह था श्रीकृष्ण का अन्तर्धान। समझने वाली बात केवलमात्र एक ही है- साधक को कोई क्रिया बड़े तीव्रतम अभ्यास के बाद सिद्ध हो पाती है एवं साधना के बल से ही साधक योगी उसको कर पाता है। किन्तु सिद्ध योगिराज एवं श्रीकृष्ण जैसे अनादिकाल महासिद्ध जब किसी क्रिया को करना चाहते हैं तो उनकी वह क्रिया उनके केवल चिन्तनमात्र से ही अनायास हो जाती है। उनको किसी प्रकार की, किसी विशेष विधान पूर्वक कुछ साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्युत उनके संकल्प में ही सकल शक्तियों का वास होता है। उनके चिन्तनमात्र से ही सब कार्य सिद्ध हो जाया करते हैं। श्रीकृष्ण का यह उदाहरण ऐतिहासिक उदाहरण है। मैं इस लेख में इस समय के विद्यमान एक महापुरुष का उदाहरण दिये बिना नहीं रह सकता। यह महापुरुष बहुत बड़े उद्यमी और प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति हैं। एक सभा में वे गये हुए थे। आर्य समाज की स्टेज थी। अन्तर्धान क्रिया पर वहाँ पर विवेचना हुई। अन्तर्धान क्रिया को गलत कहा गया। यह महापुरुष भी वहाँ मौजूद थे उस समय उनका नाम था लाला खुशहालचन्द खुर्शन्द। मेरे विचार में सभी शिष्ट व्यक्ति लाला खुशहालचन्द खुर्शन्द को जानते हैं। यह लाहौर के रहने वाले हैं उन दिनों 'मिलाप' अखबार के एडीटर थे। इनसे पूछा गया अन्तर्धान क्रिया के विषय में आपका क्या विचार है? महात्मा खुशहालचन्द खुर्शन्द चुप रहे। बार-बार पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया- इस विषय में मैं अभी कुछ नहीं कह सकता 'जब तक साधना के आधार पर या किसी अनुभवी व्यक्ति द्वारा मैं इस क्रिया को स्वयं देख न लूँ।' उस दिन उस स्टेज पर योग के दो सिद्धान्तों का खण्डन किया गया था। पहला विषय था योगी अन्तर्धान नहीं हो सकता। दूसरा विषय था योगी का आसन जमीन से ऊपर नहीं उठ सकता। क्योंकि मनुष्य के शरीर का सम्बन्ध पृथ्वी से अधिक है। पृथ्वी इसको अपनी ओर आकर्षित किये रहती है। मिट्टी के ढ़ेल को आकाश में यदि फेंका जाय तो वह आकाश में न रहकर पृथ्वी पर ही लौटकर गिरता है, आदि-आदि बातें बिना अनुभव की वहाँ एक उपदेशक ने कहीं। दोनों ही विषयों के सम्बन्ध में श्री खुर्शन्द जी से प्रश्न किया गया कि इस विषय में आप अपना मत बतलाइये। महात्मा खुशहालचन्द ने स्पष्ट उत्तर दिया कि मैं तब तक इस विषय में कुछ नहीं कह सकता जब तक कि मैं स्वयं न जान लूँ। महात्मा खुशहालचन्द खुर्शन्द अन्तर्धान क्रिया को देखने व जानने के लिए अति इच्छुक रहे। उन्होंने तीव्रतम् तपश्चया एवं स्वाध्याय करना आरम्भ कर दिया। हमारे योगशास्त्र का सिद्धान्त है- योगी स्वाध्याय के बल से इष्टदेव के दर्शन करता है। ऋषि-मुनि देवता लोग उसके आँखों के सामने आया करते हैं एवं उसको वरदान दिया करते हैं। इसी सिद्धान्त को सामने रख करके लाला खुशहालचन्द खुर्शन्द ने तीव्रतम् तपश्चर्या एवं स्वाध्याय को करना आरम्भ कर दिया। समय आने पर इन्होंने संन्यास लिया और अब यह महात्मा आनंद स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं। समय आने पर श्रीआनंद स्वामी ने कैलाश मान-सरोवर आदि की। यात्रा की उसी यात्रा के संदर्भ में इनको एक सिद्ध योगिराज के दर्शन प्राप्त हुए। यह योगिराज रात के तीन बजे के लगभग इनके सामने प्रकट हुए। इनके मस्तक में विभूति लगाकर दीक्षा-दीक्षा शब्द कहकर अन्तर्धान हो गये। महात्मा आनन्द स्वामी का यह पहला अवसर था जबकि इन्होंने अपनी तपश्चर्या एवं स्वाध्याय के परिणाम स्वरूप इस प्रकार महापुरुष के दर्शन प्राप्त किये और अन्तर्धान क्रिया को भी आँखो के सामने देख लिया।

किन्तु इनकी लगन अब और भी दृढ़वती हो गई। यह अपने अभ्यास में बैठ गये। सूर्योदय होने के बाद इन्होंने वहाँ के वाशिन्दे पहाड़ी लोगों से पूछा कि क्या इस क्षेत्र में कोई सिद्ध योगिराज महात्मा निवास करते हैं? उन लोगों ने उत्तर दिया- हाँ! यहाँ से दो-तीन मील की दूरी पर एक महात्मा निवास करते हैं। यह महात्मा गुफा में रहते हैं। इनकी गुफा के सामने लगभग दो सौ तीन सौ मन का पत्थर लगा रहता है जिसको कोई हटा नहीं सकता। कभी-कभी जब वह महात्मा निकलते हैं तो अपने आप ही उस पत्थर को हटाया करते हैं और कोई सांसारिक व्यक्ति उनके सामने जाए तो उसको पत्थरों से ही मारते हैं। महात्मा आनन्द स्वामी ने दृढ़ विचार किया और महात्मा के दर्शनार्थ गुफा पर पहुँचे। इनके पहुँचते ही उस महात्मा ने वह पत्थर हटा दिया। महात्मा आनन्द स्वामी अन्दर गये तो इनको देखकर बड़ा हर्ष हुआ क्योंकि वह यही महापुरुष थे जो रात के तीन बजे दर्शन देकर एवं विभूति लगाकर दीक्षा देने आये थे। महात्मा आनन्द स्वामी ने उनके सामने अपने दोनों प्रश्न रक्खे- क्या योगी का आसन जमीन से ऊपर उठ जाया करता है? योगी ने उत्तर दिया— हाँ! मेरा आसन जमीन से ऊपर उठ जाता है। महात्मा आनन्द स्वामी ने कहा- क्या मैं इसको देखने का अधिकारी हूँ महात्मा ने उत्तर दिया- हाँ! तुम अधिकारी हो, मैंने ही तुम्हें बुलाया है, तुम गौर के साथ देख लो मेरा आसन जमीन से ऊपर कैसे उठता है। यह कहकर वह महात्मा पद्मासन लगाकर बैठ गये, भस्त्रिका प्राणायाम आरम्भ हुआ। शनैः शनैः शरीर में कम्पन एवं कम्पन के बाद दादुरी वृत्ति हुई। इसके फलस्वरूप के शनैः शनैः जमीन से ऊपर उठने लगे एवं थोड़ी ही देर के बाद उनका सिर गुफा की छत से जाकर लग गया। योगिराज आकाश में निराधार ठहरे रहे एवं थोड़ी देर के बाद शनैः शनैः पूर्ववत् जमीन पर आकर बैठ गये।

महात्मा आनन्द स्वामी ने पूछा यह क्रिया आपको कितने वर्ष में सिद्ध हो पायी है। उन्होंने उत्तर दिया यह मेरे उन्नीस वर्ष के अभ्यास का परिणाम है। इसी प्रकार से श्री आनन्द स्वामी ने उन्हीं महात्मा से पुनः अन्तर्धान क्रिया को देखा। अन्य बहुत-सी बातचीत करने के पश्चात पुनः अपने स्थान पर लौट आयें। महात्मा आनन्द स्वामी आजकल देहरा दून के पास तपोवन में रहते हैं। यदि कोइ सज्जन उनसे बात करना चाहे तो वे और भी स्पष्ट रूप से इन बातों को बत-लायेगें। बात-चीत करना, बतलाना यह सब तो ठीक है ही। किन्तु इनसे भी उत्कृष्ट सत्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए साधक को चाहिए कि वह उद्यमी बने और अपने शास्त्रीय सिद्धान्तों को अनुभूति में लाकर प्रयोगात्मक रूप से देखे। सत्य सिद्धान्त उसके सामने आ जायेगा और यथार्थता को वह स्वयं जान जायेगा।



योगी को काल का ज्ञान

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने अक्टूबर मास के अंक में 'योग-दर्शन के विभूतिपाद की विभूतियों के प्रकरण में योगी की अन्तर्धान क्रिया का वर्णन किया था, और उसके सन्दर्भ में इन क्रियाओं को प्रत्यक्ष रूप में देखने वाले महात्मा आनन्द स्वामी की एक घटना का उल्लेख करते हुए उसे स्पष्टतया यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि आज कलि-काल के घोर क्लेशमय वातावरण में भी इस प्रकार के अभ्यासी योगी यहाँ मिलते हैं, जिन्होंने शास्त्रीय विधि से अभ्यास बढ़ाकर यौगिक क्रियाओं की सार्थकता को यथार्थ रूप से पहचान लिया है। अन्तर्धान क्रिया के बाद योग दर्शन में अपरान्त ज्ञान का प्रकरण आता है। योगी अपने कर्म विपाक को भोगता हुआ अपने प्रारब्ध को कब समाप्त कर रहा है, इस बात को कोई सांसारिक मरणधर्म जीव तो जान ही नहीं सकता, किन्तु जो योगी संयमित चित्त हो चुका है वह अपने भोगे जाने वाले कर्म के अन्दर संयमन करें तो उस उपभोग की समाप्ति कब हो रही है और उसका इस पंचभौतिक शरीर से कब वियोग हो जायेगा इसको भली प्रकार जान सकता है। 'योग दर्शन' में महर्षि पतञ्जलि महाराज ने अपरान्त ज्ञान के दो उपायों का निर्दर्शन किया है। सूत्र इस प्रकार है।

सोयक्रमं निरूपक्रमं च कम तत्सयभादपरान्त-ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।

अर्थात् सोपक्रम कर्म के द्वारा और निरुपक्रम कर्म के द्वारा संयमित चित्त वाला योगी काल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। अथवा मृत्यु से पहले प्रकट होने वाले चिह्नों के द्वारा योगी को काल का ज्ञान हो जाता है। इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ इस प्रकार पढ़िये-

आयुविपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं, निरुपक्रमं च। तत्र यथाऽऽद्र वस्त्रं वितानितं लघीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपमम्। यथा च तदेव सपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा वाऽग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत्तथा-सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृण-राशौक्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत्तथा निरुप-क्रमम्। तदेकभविक-मायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमम् निरुपक्रमम् च। तत्संयमारपरान्तस्य प्रायणस्य ज्ञानम्। अरिष्टेभ्यो वेति। त्रिविधमरिष्टमाध्या-म्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविक च। तत्राध्यात्मिकं घोषं पिहित कर्णो न श्रणोति, ज्योतिर्वा नेत्रेऽवष्टब्धे न पश्यति। तथाधिभौतिकं यमपुरुषान्प-श्यन्ति। पितृ-नतीतानकस्मात्पश्यति। तथाधिदैविकं स्वर्गमक-स्मात्सिद्धान्वा पश्यति। विपरीतं वा सर्वमिति। अनेन जानात्यपरान्तमुपस्थितमिति।

अर्थात् आयु रूप फल को देने वाला कर्म दो प्रकार का होता है। एक उपक्रम सहित जल्दी योग देने वाला दूसरा उपक्रम रहित शनैः शनैः देर में फल देने वाला उदाहरण के रूप में इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। जैसे गीला वस्त्र यदि निचोड़ कर सुखाया जाये तो वह धूप और हवा में सुखाया हुआ बहुत जल्दी सूख जाया करता है इसी को सोपक्रम कर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त उसी उसी गीले वस्त्र को लपेट कर गोला बनाकर किसी ठण्डे स्थान में रख दिया जाए और सूखने की इन्तजार की जाय तो वह बहुत लम्बे समय में सूख पायेगा जबकि सूखने वाला वस्त्र एक ही है उसको सोपक्रम वाले साधनों के साथ सुखाया जायेगा तो वह जल्दी सूख जायेगा। और इसी प्रकार से वही गीला वस्त्र जहाँ कोई भी सूखाने का साधन न हो वहाँ पिण्ड बनाकर रख दिया

जाये तो वह सूखेगा तो सही किन्तु बहुत लम्बे समय तक सूख पायेगा। यही हिसाब सोपक्रम और निरुपक्रम का है। यदि हमारा प्रारब्ध कर्म तीव्र संवेग के साथ जल्दी-जल्दी भोग में आ रहा है, तो उसकी तीव्र गति के अनुसार वह अपने प्रारब्ध का फल जल्दी-जल्दी दे डालेगा और उस प्रारब्ध योग के जल्दी समाप्त होने पर आयु की समाप्ति का भी समय जल्दी आ जायेगा। इसके अतिरिक्त जो लोग निरुपक्रम कर्म वाले हैं उनका प्रारब्ध योग सपिण्डाकार बने गीले वस्त्र के समान शनै: शनै: मन्थर गति के समान भोग में आ रहा है तो वह उस आयु का भोग लम्बे समय तक देता रहेगा। अत: उसकी आयु लम्बे समय तक बनी रहेगी।

इसी विषय को समझाते हुए भगवान व्यासदेव ने अग्नि और काष्ठ का उदाहरण देकर सोपक्रम एवं निरुपक्रम कर्म को समझाया है। जैसे सूखे तिनकों या काष्ठ में डाली हुई अग्नि वायु का सहयोग पाकर उस काष्ठ को बहुत जल्दी जला डालती है, इसी प्रकार से सोपक्रम कर्म उपयुक्त साधनों के साथ भुगतान किया हुआ प्रारब्ध कर्म को जल्दी समाप्त कर डालता है, और शरीर को अवधि आ जाती है। और वही अग्नि जो शुष्क काष्ठ में डाली गई थी उसने वायु के सहयोग को पाकर काष्ठ को जल्दी जला दिया था। उसी प्रकार यदि उसको गीले काष्ठ समूह में डाल दिया जाय अथवा धान्य तृणों में डाल दिया जाय तो उनको शनै: शनै: जलाती हुई बहुत समय में जला पायेगी। इसी प्रकार निरुपक्रम कर्म भी मनुष्य के प्रारब्ध को शनै: शनै: भुगतान कराता हुआ भुज्यमान (पूर्व के कलष्टि प्रारब्ध) प्रारब्ध को लम्बे समय तक भुगतान कराकर छोड़ता है। अब रही केवल एक बात कि संस्कारों का साक्षात्कार करने वाले योगी की अपनी योग्यता क्या है। उसका संयम कितना है वह अपने कर्मों को देख भी सकता है या नहीं, मन में होने वाली प्रत्येक चेष्टा जो क्रियात्मक रूप से स्थूल में भी प्रगट होती रहती है उसी का नाम कर्म है। मन चंचल है इन्द्रियां अपने प्रमुख द्वारों द्वारा मन को बाह्य विषयानुरागी बनाती हैं। मन का बाह्य विषयानुराग ही क्रियात्मक होने से कर्म का रूप धारण कर लेता है। इसी का नाम कर्म है। यह सब हरकतें अन्त:करणावस्थित कर्माशय में अव्यक्त रूप से प्रसुप्त के मानिन्द पड़ी रहती हैं और मनुष्य पशु पक्षी या अन्यान्य योनियों में शरीर धारण कर व उन शरीरों में प्रगट होकर अपना भोग देने लगती है। कर्म गति बहुत गहन है। जिस प्रकार एक लम्बे रास्ते को तय करने के लिए विविध प्रकार के प्रारब्ध के भुगतान की गतियां भी भिन्न-भिन्न होती हैं। जिस प्रकार एक मनुष्य पदाति चलता है और समुद्र पार बसने वाले अमेरिका आदि देशों में जाना चाहता है तो उसके लिए यथार्थ है कि पर्वतों की संधियों से चलते हुए या पानी के जहाज से जाते हुए कई वर्षों का समय लग सकता है। किन्तु वही व्यक्ति अच्छी गति वाले हवाई जहाज से यात्रा करता है तो उन देशों में एक दो दिन में ही पहुँच जायेगा। इसी प्रकार से कर्मों के भुगतान की बात भी है। एक योगी जो ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा बन चुका है एवं सर्व समर्थ है वह अपने लम्बे समय में भुगतान में आने वाले कर्मों को सूक्ष्मत्वेन भुगतान करके निबटा सकता है जबकि अज्ञानी जीव तमसावृत्त होकर उन्हीं कर्मों को पूरी जिन्दगी में भोग पायेंगे। इसी प्रकार के भुगतान को भगवान पतञ्जलिदेव ने सोपक्रम निरुपक्रम रुप से वर्णित किया है। योगी को अपने योगाभ्यास के बल से जो दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाया करती है उसी के प्रभाव से वह अपने कर्माशय में अपनी सूक्ष्म एवं दीर्घ कर्मों की चेष्टाओं को देख लेता है और यह जान लेता है कि मेरा अमुक कर्म कलाप इतना लम्बा और दृढ़ है उसका भुगतान इतने समय के अन्दर हो पायेगा। इसके इस भुगतान के बाद मेरा यह शरीर जो इसी प्रारब्ध के भोग निमित्त निर्मित हुआ है समाप्त हो जायेगा। यह है योगी का सोपक्रम एवं निरुपक्रमों में निरुपक्रम कर्मों में संयम करके अपरान्त ज्ञान का प्रकार। यह ज्ञान केवल योगी को ही हो सकता है, हर व्यक्ति को नहीं। यदि उस योगी ने धारणा, ध्यान, और समाधि के अभ्यास को क्रमश: नियमानुसार किया हो और समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच गया हो। कितने ही योगी इस प्रकार के होते हैं जो संयम से निम्न श्रेणी समाधि को भी पार नहीं कर पाते किन्तु उनकी भावना रहती है कि वे लोग संयम के फल के दृष्टा बन जायें। भगवान पतञ्जलि देव ने– ''**त्रयमेकत्रसंयम**'' कहकर के समाधि की ही उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् शुद्ध स्थिति को संयम कह करके परिभाषित किया है। मनुष्य जब तक धारणा ध्यान

और समाधि की परिभाषाओं को समझकर संयम तक न पहुँच जाये तब तक वह ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा नहीं कहला सकता और सूक्ष्म दर्शक नहीं हो सकता- जो योगी एकान्तवास करते हुए सभी प्रकार की लौकिक इच्छाओं का परित्याग करके विरक्त भाव से रहते हैं एवं प्रात:काल से लेकर सायंकाल तक अपने अभ्यास में लगे रहते हैं वे शनै: शनै: समाधि में आरूढ़ हो जाते हैं, और उनके इस अपने अभ्यासकाल में परमगुरु ईश्वर की अनुकम्पा से विशेषाविशेष सभी तत्त्वों का प्रकाश होने लगता है। समाधि प्रज्ञा पुष्ट होती रहती है और योगी अपनी पवित्र मेघा के द्वारा सूक्ष्मतत्त्वों का ज्ञाता बन जाता है। यह नितान्त आवश्यक है कि योगाभ्यासी विषयलोलुप न हो, उसका मन संसार की तृष्णाओं में भटकता न हो।

''इदं मया लब्धं इदं

प्राप्स्ये च मनोरथंम्।''

अर्थात् यह मैंने आज प्राप्त कर लिया यह मैं कल प्राप्त करूँगा। ऐसी तृष्णायें उसको विचलित न करती रहती हों। तब वह योगी समाधि प्रज्ञा के बल से सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों को पहचान लेने की योग्यता को थोड़े ही समय के अन्दर प्राप्त कर लिया करता है। इस प्रकार के अभ्यास-बल के द्वारा योगी संयम सिद्ध योगी बन जाय तभी वह अपने सोपक्रम एवं निरुपक्रम वाले कर्मों को पहचानने वाला बन जाता है। और उसी आधार पर उस योगी को अपरान्त ज्ञान अर्थात् अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाया करता है। इसके अतिरिक्त सूत्र के दूसरे भाग में भगवान पतञ्जलिदेव ने अरिष्टों के द्वारा काल ज्ञान को बात को कहा। वह विषय इस प्रकार का है जो प्राय: सभी सांसारिकों को हुआ करता है।

अरिष्टों के द्वारा काल ज्ञान

योगदर्शन के व्यास भाष्य में तीन प्रकार के अरिष्टों का सार्थक वर्णन किया गया है। जिसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधि दैविक ये तीन प्रकार के अरिष्ट अर्थात् लक्षण ऐसे होते हैं जिससे हरेक संसारी व्यक्ति अपने मृत्यु समय को जान लिया करता है।

आध्यात्मिक अरिष्ट:

हमारे शास्त्रों का इस प्रकार का निर्णय है। अध्यात्म मार्ग की ओर बढ़ने वाले व्यक्ति जो विरक्त भाव से परमश्रेय लाभ करना चाहते हैं वे लोग नादानुसन्धान में लगे रहते हैं। अध्यात्म नाद हर व्यक्ति के शरीर में प्रतिक्षण उठता रहता है। योगी लोग इस नाद का साक्षात्कार करके एवं अपने कर्णेन्द्रियों के बाहरी द्वारों को बन्द करके उसको प्रतिक्षण सुनते रहते हैं और इसके अतिरिक्त भूमध्य में चक्षूनिष्पिडन क्रिया के द्वारा अन्तर ज्योति को देखते रहते हैं। कोई व्यक्ति इस प्रकार का हठ अभ्यासी न भी हो तो भी अपने कर्ण रन्ध्रों को उँगलियों से बन्द करके यदि उस नाद को सुनना चाहे तो अवश्य सुन ही सकता है एवं चक्षूनिष्पिडन के द्वारा यदि ज्योति दर्शन करना चाहे तो वह भी थोड़ा-बहुत हरेक को हो ही सकता है। किन्तु जिसकी मृत्यु निकट भविष्य में ही होने वाली है वह उस अध्यात्मघोष को कान बन्द करने पर भी नहीं सुनता एवं चक्षूनिष्पिडन करने पर भी उस अध्यात्मज्योति को नहीं देखता जिस व्यक्ति को इस प्रकार का अनुभव न हो उसको समझ लेना चाहिये कि वह काल का ग्रास है एवं उसकी मृत्यु निकट भविष्य में ही होने वाली है। इसका नाम आध्यात्मिक अरिष्ट है।

आधिभौतिक अरिष्ट:

साधारण रहन-सहन में रहने वाला व्यक्ति दु:स्वप्नों को देखे। काल योगिनी, यम पुरुष, यमदूत अन्य भयंकर दृश्यों को देखे तो यह उसके लिये निकट भविष्य में होने वाली उसकी मृत्यु का एक चिह्न है। ऐसे लक्षण थोड़ा बहुत भजन करने वाले या न करने वाले सांसारिकों को प्रकट होते रहा करते हैं। इसी को आधि भौतिक अरिष्ट कहते हैं।

आधिदैविक अरिष्ट:

ये सभी प्रकार के अरिष्ट जैसी जिसकी स्थिति है उसके अनुसार प्रगट हुआ करते हैं। आधिदैविक अरिष्टों के अन्दर मनुष्य अकस्मात् सिद्धों के दर्शन करने लगे, स्वर्गादि लोक लोकान्तर दिखाई देने लगें, देवता और उनकी स्त्रियों के दर्शन होने लगें स्वर्गीय वन, उपवन, उद्यान आदि दिखने लगें तो भी समझ लेना चाहिये ऐसे व्यक्तियों की मृत्यु निकट ही है।

किन्तु यह सब बातें उन व्यक्तियों के लिये हैं जो कभी भी आध्यात्मिक प्रगति की ओर बढ़ें ही नहीं हैं। अध्यात्म शील, विवेकी साधक अपने योगाभ्यास में नित्य ही स्वर्ग आदि लोक लोकान्तरों के दर्शन किया करते हैं। और सिद्धों के दर्शन प्राप्त किया करते हैं अनेक प्रकार के वरदान भी वे प्राप्त करते हैं वह उनका अपना अध्यात्म प्रकाश है। सदा-सर्वदा आयु वर्धक एवं कल्याणकारी है। जो योगी अपने योगाभ्यास में सिद्धों के वरदान प्राप्त करता है, समझ लेना चाहिये वह अजरत्व एवं अमरत्व की ओर बढ़ रहा है। इसके अतिरिक्त मृत्युकाल में जिनकी प्रवृत्तियाँ विपरीत बन जाया करती हैं यानि धर्मात्माओं के अन्दर अधर्म प्रवृत्ति में बन जाया करती है, कंजूस स्वभाव के उदार हो जाते हैं। जो जीवनभर कर्कश बन कर रहें हों उनकी वाणी अमृत के समान मीठी हो जाती हे। ये भी उनके अपरान्त की एक निशानी है। ये सब कुछ अकस्मात् हो तो समझ लेना चाहिए इस व्यक्तिका अपरान्त काल उपस्थित हुआ और यदि वह व्यक्ति अपने जीवनभर के अभ्यास से अपने आपको तपपूर्ण बना चुका है तो उसके शरीरान्त के समय उत्कृष्ट चिह्न स्वाभाविक भी हो जाया करते हैं इसलिये साधक को चाहिये कि अपने जीवनकाल में वह अपने आपको सत्वस्थ बना ले। कम से कम उत्कृष्ट लोकों का अधिकारी बन जावे अखिलात्मा भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद् भगवत् गीता में स्वयं यह बतलाया है-

जघन्य गुणवृत्तिस्था।

अधो गच्छन्ति तामसा।।

अर्थात् सत्वस्थ व्यक्ति उच्च लोकों के अधिकारी बन जाते हैं और रजोगुण प्रधान व्यक्ति मनुष्य लोक में बार बार जन्म लिया करते हैं। और जो लोग घृणित स्वभाव वाले, जघन्य वृत्तियों वाले तमसावृत होते हैं, वे नीचे के लोकों में तलवितल, रसातल, पाताल आदि के अन्दर जन्म लिया करते हैं। उपरोक्त अरिष्टों को समझकर साधक को दृढ़तापूर्वक प्रयत्न में लग जाना चाहिये। जितनी अधिक से अधिक वह कमाई कर सके कर लेनी चाहिये- समय निकल जाने पर पश्चात्ताप से कोई लाभ नहीं है—

काल चिरैया चुग रही,

निशदिन आयु खेत।

फिर पछताये काहोयगो,

जब चिड़िया चुग जायं खेत।।

योग की महत्ता और व्यापकता तथा उसका वास्तविक स्वरूप

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

'योग' शब्द इतना व्यापक व महत्वशाली है कि सभी सिद्धान्तवादियों ने इसको अपने हृदय से अपनाया है। भक्ति-योग, ज्ञान-योग, कर्मयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग, शून्ययोग इत्यादि ये सभी शब्द इसकी व्यापकता के परिचायक हैं। इस संसार में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा, जिसको योग की सच्ची जिज्ञासा न हो, किन्तु ''**मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना**'' के नियमानुसार प्रत्येक व्यक्ति ने इसका अपनी मति के अनुसार प्रयोग किया है। जो लोग हृदय-प्रधान हैं और ईश्वर की अर्चना, वन्दना आदि के रूप में लक्ष्य प्राप्ति के लिए संलग्न हैं, उन्होंने इसको 'भक्तियोग' के रूप में अपनाया है। जो लोग ज्ञान निष्ठा प्रधान हैं और महा वाक्यों का मनन करते हुए भी वेदान्त सिद्धान्तों के अनुसार आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील हैं, उन्होंने 'ज्ञान-योग' के रूप में। इसी प्रकार जो लोग ईश्वरार्पित बुद्धि (निष्काम भाव) से कर्म करते हुये, कर्मबन्ध से छूटकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्होंने इसे 'कर्मयोग' के रूप में से अपनाया है।

इसके अतिरिक्त योग के ऐसे व्यापक प्रभाव और महत्ता को देख करके कुछ दम्भी लोगों ने भी इस शब्द को अपनाकर यक्षिणी, पिशाचिनी और छोटी-छोटी तामस, राजस शक्तियों की आराधना कर सिद्धियों को पाकर संसार के भोले-भाले प्राणियों को चमत्कार में डालकर अपनी पूजा कराई और अपने को योगी सिद्ध किया है। जिन्होंने योग के कुछ साधनों को कहीं से सीख लिया, उन्होंने योग केन्द्र एवं योगाश्रम आदि के नाम से संस्थायें स्थापित कर लीं और केवल मात्र नेति-धोति आदि षट्कर्म व आसनबन्ध मुद्राओं के द्वारा शारीरिक साधनाओं को ही परमलक्ष्य बना डाला। इसी प्रकार से बिना अष्टांग योग की साधना के ही अनेक लोगों ने भू-गर्भ, जल गर्भ आदि समाधियाँ लगाकर योग के व्यापक शब्द से लाभ उठाया। यह सब योग का वास्तविक अर्थ न समझने या समझकर भी उसकी उपेक्षा के कारण हुआ, ऐसा मानना होगा।

यदि ठीक प्रकार से विचार कर देखा जाय तो 'योग' शब्द का अर्थ है मिलाने वाली क्रिया। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज् धातु से सन्धानार्थ-भाव अर्थ में धम् प्रत्यय होकर 'योग' शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है जुड़ना-मिलना। तथा युज समाधौ से 'योग' का अर्थ समाधि।

योगाचार्य भगवान् पतञ्जलि ने '**योगश्चित्त वृत्ति निरोधः**' कहकर 'योग' शब्द को अभिव्यक्त किया है, जिसका अर्थ है चित्त वृत्तियों का निरुद्ध होना। '**चित्त वृत्ती नाम नितरां रोधः निरोधः**' अर्थात् चित्त-वृत्तियों का नितान्त रुक जाना ही निरोध शब्द का अर्थ है और हमारी शास्त्रीय परिभाषा में निरोधः समाधिः' '**समाधिर्वैयोगः**' अर्थात् समाधि का ही नाम योग है और निरोध को ही समाधि कहते हैं। समाधि शब्द का अर्थ '**समाधिः समतावस्था जीवात्म परमात्मनोः**' कहकर हमारे आचार्यों ने जीवात्मा और परमात्मा की समस्थिति को ही समाधि बतलाया है। अर्थात् जिस क्रिया के करने पर जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाय उसी क्रिया को समाधि कहा गया है।

भगवान् '**पतञ्जलि देव**' ने जहाँ पर '**योगश्चित्त वृत्ति निरोधः**' कहकर योग का लक्षण किया वहाँ पर उसके साथ ही '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**' कह करके जीवात्मा का समाधि स्थिति में स्वरूपावस्थित होना भी स्पष्ट बतला दिया है।

इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये श्री व्यासदेवजी ने बिल्कुल स्पष्ट लिखा कि '**स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चिति शक्तिर्यथा कैवल्ये**' अर्थात् चित्त शक्ति जैसी कैवल्य में

होती है वही स्वरूप प्रतिष्ठा का सही अर्थ है। जीवात्मा समाधि में भी कैवल्य की तरह ही स्वरूप प्रतिष्ठ होती है। किन्तु '**योगश्चित्त वृत्ति निरोधः**' इस सूत्र में केवल मात्र चित्त वृत्ति निरोध को योग कहा है न कि सर्व चित्त वृत्ति निरोध को। क्योंकि इस सूत्र में सर्व शब्द ग्रहण नहीं है। इसलिए योग की संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात दोनों ही अवस्थाओं का नाम योग है। इसी कारण से '**वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात् संप्रज्ञातः**' कह करके संप्रज्ञात योग, व 'विराम प्रत्ययाभ्यास पूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः कह करके असंप्रज्ञात योग का कथन किया है।

संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि को दूसरे शब्दों में एकाग्रावस्था व निरोधावस्था कहना चाहिए। सारे संसार के प्राणियों के चित्त 5 अवस्थाओं में विभक्त रहा करते हैं। उनमें से—

1. मूढ़ावस्था के प्राणी जिनमें तमोगुण प्रधान रहता है तथा रज और सत्व, गौण हो जाया करते हैं। इस अवस्था के चित्त वालों की प्रवृत्ति काम क्रोध-लोभ, मोह आदि से आवृत्त रहा करती हैं और वे आलस्य-तन्द्रा में घिरे रहते हैं। किसी भी प्रकार उनकी उदर पूर्ति होती रहे, इसके अतिरिक्त किसी के हिताहित लोक-परलोक से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

2. क्षिप्तावस्था के प्राणी जिनमें रजोगुण प्रधान रहता है। तमोगुण व सत्त्वगुण गौण रहने के कारण इनके मन से चंचलता, दुःख शोक चिन्ताएँ बनी रहती हैं। लौकिक साधना ही इनका परम लक्ष्य रहता है। सांसारिक कार्य, धन्धे, व्यापार के अतिरिक्त परलोक आदि में इनकी आस्था नहीं होती।

इन लोगों का प्रायः सिद्धान्त रहा करता है—

यावज्जीवेत् सुखंजीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनम् कुतः।।

अर्थात् मनुष्य संसार में जब तक जीवित रहे उसे सुख पूर्वक जीना चाहिये। ऋण लेकर के भी उसे ऐश आराम करना चाहिए। मृत्यु के बाद शरीर जल कर भस्म हो जायेगा। भस्मीभूत हुआ यह शरीर फिर नहीं मिलेगा। लोक व परलोक की बातें थोथी हैं। स्वर्ग व अपवर्ग किसने देखा है। इसलिए जो भी कुछ स्वर्ग व अपवर्ग है इसी लोक में है। इस प्रकार की मान्यता रजोगुण प्रधान व्यक्तियों की हुआ करती है। इसके अतिरिक्त तीसरी अवस्था के प्राणी होते हैं—

3. विक्षिप्तावस्था के प्राणी जिनमें सत्वगुण प्रधान रहता है, रजोगुण व तमोगुण गौण हो जाया करते हैं। इनके मन में पूर्ण प्रसन्नता दया, परोपकार की, धर्म, वैराग्य में पूरी-पूरी अभिरुचि रहती है, इनका मन थोड़ा-थोड़ा एकाग्रता की ओर चलने लगता है। तथा शान्त रहता है। ये लोग स्वाध्याय, संकीर्तन, उपासनायें आदि करते हैं किन्तु एकाग्रता के बिना इस भूमिका के प्राणी योग श्रेणी के नहीं माने जाते हैं। क्योंकि इनमें समाधि गौण रहती है। विक्षेप प्रधान रहता है। भगवान् व्यासदेव ने इस स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों के लिये स्पष्ट लिखा है:

तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः,
समाधिर्न योग पक्षे वर्त्तते।

अर्थात् विक्षेपोपसर्जनी भूत समाधि योग पक्ष में नहीं मानी जाती। ये लोग जप, तप, स्वाध्याय आदि में प्रयत्नशील रहते हैं और ईश्वरानुग्रह की प्रतीक्षा में अपने मन को आश्वासित रखा करते हैं। जब कभी इनके मन में तरंग उठती है तो यह कह उठते हैं:

रामनाम रटते रहो, जब लगि घट में प्रान।
कबहुँ दीन दयाल के, भनक पड़ेगी कान।।

उपर्युक्त स्थितियों में रहने वाले व्यक्ति योगी तो शब्द से अभिवाच्य नहीं कहे जाते। योग की वर्णमाला तो मन की एकाग्रता से आरम्भ ही होती है। चौथी अवस्था के प्राणी होते हैं:-

4. एकाग्रावस्था के प्राणी – जिनमें सत्वगुण प्रधान रहता है व रजोगुण व तमोगुण स्वल्प मात्रा में शेष रहते हैं। इनका मन 'दृष्टानु श्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा-वैराग्यरम्' हो करके अपर होता है।

मनुष्य का मन बहुत अद्भुत व बड़ा शक्तिशाली है। वस्तुतः विचार कर देखा जाय तो इस सृष्टि के बड़े-बड़े अद्भुत कार्य मन की एकाग्रता से ही सम्पन्न होते हैं। जब तक मन के अन्दर एकाग्रावस्था का उदय नहीं होता तब तक हम किसी भी मन्त्र का उच्चारण करते रहें वह केवल वर्ण विन्यास मात्र रहता है। र म क च ट ये सब शब्द हैं। शब्द की उत्पत्ति

आकाश से होती है और आकाश में ही उनका विलय हो जाया करता है। 'रामनाम' का उच्चारण करके तब तक हम कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते जब तक श्री राम के रूप में हमारा मन एकाग्र न हो जाय। इसीलिये भगवान् पतञ्जलि देव ने ईश्वर के मुख्य नाम ॐ का वर्णन करते हुए **'तज्जपस्तदर्थ भावनाम्'** का उल्लेख किया है अर्थात् उसके नाम का जप करना और अर्थ का ध्यान करना ये दोनों क्रियायें साथ होने पर हो मनुष्य नाम जप आदि के शुद्ध परिणाम को पा सकता है। मन बहुत चंचल है। मन की चंचलता को जगदात्मा अखिल लोकनायक भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी ने स्वयं स्वीकार किया है–

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।
गीता 6:35

अर्थात्— हे अर्जुन यह मन बड़ा ही चंचल हैं पर वह अभ्यास और वैराग्य के द्वारा नियन्त्रण में लाया जा सकता है।

मन की शक्ति को हम तब तक नहीं जान सकते जब तक वह एकाग्र नहीं हो जाता। हमारे आचार्यों ने मन को ज्योतियों का भी परम ज्योति बताया है। किन्तु इसकी अपार शक्ति को एकाग्र होने के बाद ही हम जान सकते हैं। जिस प्रकार से तीव्रगति से चलने वाले बिजली के पंखे को हम केवल एक गोल चक्र के रूप में ही देखते हैं लेकिन जब वह रुक जाता है तो उसकी तीनों पंखड़ियाँ अलग-अलग दिखलाई देने लग जाती हैं। इसी प्रकार मन को हम जान सकते हैं। अत: मन की एकाग्र अवस्था को हमारे योगाचार्यों ने समाधि पक्ष में माना है और इसी को संप्रज्ञात योग कहा गया है। संप्रज्ञात योग के विषय में भगवान् व्यास देव ने अपने भाष्य में कहा है–

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान् कर्म बन्धनानि श्लशयति, निरोधमभिमुख करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते,।

अर्थात् जो एकाग्रचित में अद्भुत अर्थ को प्रकट करता है और क्लेशों को क्षीण करता है और कर्म बन्धनों को ढीला करता है और चित्त को निरोधाभिमुख बनाता है। उसको सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। सम्प्रज्ञात योग में क्योंकि मन की एकाग्रता होती है, और विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ हुआ करती हैं, एवं मन की शक्तियाँ प्रकट होती रहती हैं, इसलिये इसको सम्प्रज्ञात योग कहा है।

इससे आगे पांचवी स्थिति निरोधावस्था के प्राणियों भी होती है।

5. निरोधावस्था के प्राणी–जिनमें बाहर से गुणों का परिणाम बन्द होकर चित सत्व में निरोध परिणाम संस्कार मात्र से शेष रह जाता है और द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

ऊपर वर्णन की हुई पाँचों प्रकार की अवस्थाओं में केवल मात्र एकाग्रावस्था व निरोधावस्था को ही योग श्रेणी में लिया है। संसार का कोई भी प्राणी किसी प्रकार की साधनाएँ करता रहे जब तक मन में एकाग्रता का उदय न हो तब तक उसका योग में प्रवेश नहीं माना जा सकता। भगवान् पतञ्जलि जी ने—

'यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार
धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।'

कह करके अष्टांग योग का वर्णन किया। अंग अंगी से अलग नहीं होते इस विचार से अष्टांग योग के किसी भी एक अंग का पालन करने वाला भी योग का विद्यार्थी तो है ही।

इनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम, व प्रत्याहार ये पाँच अंग धारणा ध्यान समाधि की अपेक्षा बहिरंग और धारणा ध्यान, संम्प्रज्ञात समाधि, असंम्प्रज्ञात की अपेक्षा बहिरंग हैं। भगवान् पतञ्जलि जी के अनुसार किसी एक में चित्त को बाँधना धारणा कहलाती है 'देशबन्धश्चितांय धारणा, धारणा से ही सम्प्रज्ञात योग का श्रीगणेश होता है। धारणा सिद्ध हो जाने पर मन के अन्दर योग में प्रवेश की योग्यता हो जाती है। धारणा की सिद्धि से प्राप्त हुई योग्यता वाले मन की वृत्ति अन्तर्मुख होती है और ऐसा अर्न्तमुखी साधक सम्प्रज्ञात योग का अधिकारी बनता है। सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी योगी अपने प्रथम अभ्यास में वितर्कानुगत योग का अभ्यास करता है, जिसमें वह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पाँच महाभूतों का व शब्द स्पर्श रूप, रस, गन्ध इनके गुणों का प्रत्यक्ष करता है। इस वितर्कानुगत योग में पंच भूत व पंच भूतों से होने वाले सब विस्तार का और इनके सब विषयों को पूर्ण प्रत्यक्ष करता है। साधक अपने अपने

अभ्यास में पृथ्वी तत्त्व में पहाड़ सुरम्य वन उपवन व नाना प्रकार की दिव्य सुगन्धों का अनुभव करता है और जल तत्व में नाना प्रकार के समुद्र और दिव्य रसों का अनुभव करता है। अग्नि तत्व में अनेक विधि ज्वालाओं और महान् दिव्य रूपों का अनुभव करता है। वायु तत्त्व में दिव्य स्पर्शों का अनुभव करता है तथा आकाश तत्व में शून्य आकाश व आकाश से उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के शब्दों को सुनता है।

इस वितर्कानुगत योग के सवितर्क और निर्वितर्क यह दो अलग-अलग भेद हैं। उसमें

सवितर्क समाधिः, तत्र शब्दार्थ

ज्ञान विकल्पैः संकीण सवितर्का समपत्ति।

अर्थात् वितर्कानुगत में जिस समाधि में शब्द अर्थ और उसका ज्ञान मिला हुआ सा होने पर बराबर अलग-अलग भाषित होते रहें वह सवितर्क समाधि कहलाती है। फिर इसका अभ्यास करते-करते चित्त ध्येयाकार हो जाये व शब्द अर्थ ज्ञान न रहे तब वह निर्वितर्क समाधि कही जाती है। इस विषय को इस प्रकार से समझ लेना चाहिए। जैसे साधक के ध्यान में एक गाय है। गाय एक शब्द है और लम्बे गले वाली सफेद रंग चार पैरों वाली गाय एक पशु है। यह ज्ञान होना कि वह एक गाय है, यही ज्ञान है। ये तीनों शब्द और अर्थ और ज्ञान एक विषयक होते हुए भी अलग-अलग समझ में आते हैं। ऐसी स्थिति का नाम सवितर्क समाधि है। जिसमें साधक का मन ध्येयाकार बन जाय व शब्द अर्थ ज्ञान अलग-अलग अनुभव में न आकर अर्थमात्र भासित होता रहे वह निर्वितर्क समाधि है।

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्यवार्थम् निर्भासा विर्वितको।

विचारानुगत योग, निर्वितर्क समाधि की पराकाष्ठा में पहुँच जाने के बाद मनुष्य का मन सूक्ष्म विषयों में प्रवेश करता है। अभी तक वितर्कानुगत योग में उसने स्थूल महाभूतों का और उनके विषयों का प्रत्यक्ष किया था। किन्तु अब विचारानुगत योग में महाभूतों की अपेक्षा उनके सूक्ष्म तन्मात्र का प्रत्यक्ष करता है। इसी प्रकार वायु में सूक्ष्म वायु तत्व या स्पर्श तन्मात्र, अग्नि में सूक्ष्म अग्नि तत्व या रूप तन्मात्र, जल में सूक्ष्म जल तत्व या रस तन्मात्र पृथ्वी में सूक्ष्म पृथ्वी या गन्ध तन्मात्र का अनुभव करेगा। इसके साथ-साथ दस इन्द्रियों का मन बुद्धि अहंकार का प्रत्यक्ष करेगा। इसी प्रकार इन सूक्ष्म विषयों में होने वाली समाधि का नाम सविचार समाधि है। जिस प्रकार वितर्कानुगत समाधि के सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद हैं। इसी प्रकार विचारानुगत समाधि में 1-सविचार, 2-निर्विचार दो भेद हैं। सूक्ष्मविषय को सीमा प्रधान लिंग तक है। **'सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्ग पर्यवसानम्।'** जैसे हमने किसी भी तन्मात्र का सूक्ष्म ध्यान आरम्भ किया उसका अनुभव देश, काल व निमित्त से सीमित अनुभव होता रहे व ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों अलग-अलग भाषित होते रहें। इनका नाम सविचार समाधि है व जिस समाधि में ध्येय विषय देश, काल व निमित्त से सीमित न दिखलाई दे तो वह निर्विचार समाधि कहलायेगी। इस विचारानुगत योग में मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है। और सूक्ष्मता की परिधि को पहुँच जाता है। क्योंकि योगी इसमें सूक्ष्म मन का सूक्ष्म इन्द्रियों का, सूक्ष्म बुद्धि व अहंकार का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है। इसलिए इसमें दैविक शक्तियों का विकास हो जाता है इस स्थिति के योगी को दूर दर्शन, दूर श्रवण, दूर स्पर्श स्वत: होने लगता है। इसके साथ-साथ सूक्ष्म देव लोकादि भी अनुभव में आने लगते हैं और उन सब मायिक स्थानीय देवताओं को देखकर भी योगी अपने आपको इन सबसे उत्कृष्ट देखता है व बुद्धि के आमोद-प्रमोद आह्वादि सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष करता है और अपने आपको पूर्ण आनन्दमय देखता है।

इसके आगे भी योग के अनेक आचरणीय भेद और उपभेद हैं। जिनका वर्णन हम 'सिद्ध योग' में करते रहे हैं तथा आगे करते रहेंगे। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि योग प्रदर्शन का विषय नहीं किन्तु आत्मसात करने का विषय है। इस ही अर्थों में अपनाने से मनुष्य अपने अन्तिम ध्येय मुक्ति का वरण कर सकता है।

योगी के मैत्री आदि बल

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

'सिद्धयोग' के गत कई अङ्कों में हमने भगवान श्री पातञ्जलि योग के 'विभूतिपाद' की 'विभूतियों' का वर्णन किया है। इस वर्णन में योगी अपने संयम से बल के आधार पर किन-किन शक्तियों को कहाँ-कहाँ से प्राप्त कर सकता है; इसका यत्किंचित् आंशिक रूप से दर्शन कराने का प्रयत्न मात्र किया गया है। भगवान् पतञ्जलि ने अपने योग-दर्शन में महत्वपूर्ण विषयों को सूत्र रूप में कह डाला है। उनके इस प्रयास को 'गागर में सागर' कहकर पुकारा जा सकता है। विभूतिपाद में जिन विभूतियों का वर्णन किया गया है इसका अर्थ यह नहीं कि योगी का संयम बल एतावद्मात्र ही है जितना कि विभूतिपाद की विभूतियों में दिखलाया गया है। यहाँ तो महर्षि पतञ्जलि ने अपने कुछ अनुभव लिख दिये हैं जिनके आधार पर संयमित मन वाला योगी इन विषयों में संयम करता हुआ अन्य अपरिचित भूमिकाओं में भी अपने संयम बल से यथार्थता को जान सके। हमने 'सिद्धयोग' के नवम्बर मास के अङ्क में योगी काल-ज्ञान को किस प्रकार से प्राप्त करता है, इस विषय को भी भगवान पतञ्जलि देव के अनुभव के अनुसार ही यथाशक्ति समझाने का प्रयत्न किया है। यथार्थ में अरिष्टों के द्वारा काल ज्ञान प्राप्त करना तो सर्वसाधारण का ही विषय है। योगी तो अपने सोपक्रम एवं निरुपक्रम कर्मों में संयम के आधार पर ही काल ज्ञान को प्राप्त करता है। संयम बल बढ़ जाने पर योगी अपनी इस संयमित अद्भुत शक्ति से अपने अन्दर बहुत ही अद्भुत फलों को प्राप्त कर सकता है। मुनिवर भगवान पतञ्जलि ने योगी के मैत्री आदि बलों का वर्णन करते हुए लिखा है—

मैत्र्यादिषु बलानि।। 23 वि.पा.

अर्थात् मैत्री आदि बलों के अन्दर संयम करने से योगी के मैत्र्यादि बल बढ़ जाते हैं।

इस सूत्र पर श्री व्यास भाष्य की पंक्तियाँ पढ़िये—

मैत्री करुणा मुदितेति तिस्रोभावनाः, तत्र भूतेषु सुखितेषु मैत्रीं भावयित्वा मैत्रीबल लभते, दुःखितेषु करुणां भावयित्वा करुणाबलं लभते, पुण्यशीलेषु मुदितां भावदित्वा मुदिता बल लभते, भावानातः समाधिर्वः स संयमस्ततो बलान्यवन्ध्यवीर्याणि जायन्ते। पापशीलेषूपेक्षा न तु भावना। ततश्च तस्यां नास्ति समाधिरित्यो न बलमुपेक्षातस्तत्र संयमा-भावदिति।

अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता यह तीन भावनायें हैं। इनमें से सुखी प्राणियों में मित्रता की भावना का बल बढ़ता है और दुःखी जीवों में करुणा की भावना करने से करुणा का बल बढ़ता है तथा पुण्यात्मा पुरुषों में हर्ष की भावना करने से मुदिता का बल बढ़ता है। यह तीनों धारणायें संयम का विषय है किन्तु पापी जनों में उपेक्षा करना समाधि का विषय नहीं है। मैत्री, करुणा और मुदिता ये तीनों भावना समाधि का विषय है। मैत्री भावरूप सत्व में यदि योगी संयम करता है तो प्राणी मात्र के प्रति मित्रता के भाव बढ़ जाते हैं और उसका मैत्री बल बढ़ जाता है। दुःखितों में करुणारूप सत्व बढ़ जाता है कि योगी का मन दीन-हीनों के प्रति प्रतिक्षण दयामय बना रहने लगता है और पुण्यात्माओं को देखकर मुदिता रूप सत्व में संयम करने से योगी का मुदिता बल बढ़ जाता है और वह हर समय प्रसन्न रहने लगता है और पापकर्मों की उपेक्षा करने से योगी जल में रहने वाले कमल के समान निर्लेप रहता है अर्थात् योगी अंसग हो जाता है। योगदर्शन के समाधिपाद के तेतीसवें सूत्र में भगवान पतञ्जलिदेव ने इस विषय को और भी स्पष्ट कर दिया है। वह सूत्र इस प्रकार है:

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-
पुण्यविषयाणां भावनातरिश्चत्तप्रसादनम्।।
33 स.पा.।।

पढ़िये श्री व्यासदेवजी का भाष्य:

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेद्, दुःखितेषु करुणां, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यात्म-केषूपेक्षाम्, एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते, ततश्च चित्तंप्रसीदतेप्रसन्नमेकाग्रंस्थितिपदंलभते।।

अर्थात् सुखी प्राणियों में मित्रता की भावना करे, दुःखियों में करुणा और पुण्यात्मा लोगों के अन्दर हर्ष मुदिता एवं पापियों में उपेक्षा करने से चित्त में शुक्ल धर्म का उदय हो जाया करता है। इन भावनाओं से योगी का चित्त पूर्णरूपेण प्रसन्न रहता है। हमारे शास्त्रों में विशेषरूप से चित्त के छः मल बताये गये हैं, वे इस प्रकार हैं- 1. राग; 2. ईर्ष्या; 3. परापकार; 4. असूया; 5. द्वेष; 6. अमर्ष।

ये सभी मल चित्त को मलिन कर देते हैं और चित्त को विक्षिप्त बना देते हैं। इन छः प्रकार के मलों से चित्त में छः ही प्रकार की कालिमा पैदा होती है; जैसे- 1. रागकालुष्य 2. ईर्ष्याकालुष्य 3. परापकार चिकीर्षा कालुष्य 4. असूया कालुष्य 5. द्वेषकालुष्य 6. आमर्ष कालुष्य।

ये चित्त के छः प्रकार के मलों की छः प्रकार की कालिमायें हैं जो चित्त को हर समय मलिन बनाये रहती हैं।

1. रागकालुष्य : राग के बन्धन में मनुष्य रजोगुण के प्रभाव से जिस सुख का अनुभव करता है वह सुख अस्थायी है किन्तु जो व्यक्ति रागात्मक सुख को अनुभव करता है वह प्रतिक्षण यही चाहता है कि मुझे यह राग सुख सदा सर्वदा के लिए प्रतिक्षण बना ही रहे। यह रजोगुण से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति रागकालुष्य को पैदा करती है क्योंकि यह राग चित्त के सुख साधन रूप सभी विषयों की पूर्ण प्राप्ति नहीं करा सकता अतः चित्त को मलिन कर देता है और मलिन चित्त योगी के सर्व कार्यों में बाधक है। इसी प्रकार से :-

2. ईर्ष्याकालुष्य : दूसरों की उन्नति को देख करके धनधान्य एवं सम्पत्ति के सुख को देख करके साधक के मन में ये डाह पैदा होती है। ओह! यह इतना सुखी क्यों? धन-धान्य सम्पन्न एवं यशभागी क्यों, रूपलावण्य इतना सुन्दर क्यों, हट्टा-कट्टा सशक्त एवं इतना बलवान क्यों।

ये सब इस प्रकार के भाव सभी ईर्ष्या कालुष्य कहलाते हैं और चित्त के ऊपर आवरणरूप मल हैं जो चित्त को हर समय मलिन बनाकर विक्षिप्त बनाये रहते हैं।

3. परापकार चिकीर्षा कालुष्य : साधक के मन में किसी की बुराई करने की आदत पड़ जाय तो वह हर किसी की बुराई किया करता है। उसके मन में दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना प्रतिक्षण बनी रहा करती है। इसी का नाम परापकार-चिकीर्षा कालुष्य है। यह भी योगी के चित्त का एक मल है जो चित्त को हर समय मलिन और कलुषित रखा करता है।

4. असूया कालुष्य : किसी गुणी व्यक्ति के अन्दर अवगुण देखना, सदाचारी व्यक्ति को दुराचारी, दम्भी एवं कपटी बताना, निष्कलंक पर झूठे कलंक लगाना; यह सभी असूया कालुष्य है जो चित्त को हर समय असूया रूप की कालिमा से कलुषित रखा करता है।

5. द्वेष कालुष्य : किसी व्यक्ति से कोई अपराध बन जाये; मनुष्य को चाहिए उसको क्षमा कर दे किन्तु जिस व्यक्ति के अन्दर द्वेष है वह उस व्यक्ति को क्षमा नहीं करना चाहता प्रत्युत द्वेष करने वाला व्यक्ति बदला लेना चाहता है। इसी का नाम द्वेष कालुष्य है।

6. आमर्ष कालुष्य : किसी के कठोर वचन कहने पर या अपमानित होकर उसको सहन न करके बदला लेने की भावना मन में बनी रहना आमर्ष कालुष्य कहलाता है।

ये चित्त के छः मल हैं, ये चित्त को सब प्रकार से मलिन, कलुषित एवं विक्षिप्त बनाये रहते हैं। जिस योगी साधक के मन में यह भाव रहते हैं वह कभी भी एकाग्रता को नहीं प्राप्त कर सकता और एकाग्रता का न होना योगी साधक के मार्ग में बहुत बड़ा अन्तराय है। भगवान पतञ्जलिदेव ने उपरोक्त सूत्र में इन सभी प्रकार के कालिमाओं को धो देने के उपाय निहित कर दिये हैं जैसे :-

(1) सुख सम्पन्न सभी प्राणियों के अन्दर मैत्री की भावना रखने से राग कालुष्य और ईर्ष्या कालुष्य दोनों का बिल्कुल बिल्कुल अभाव हो जाया करता है। जिस प्रकार से कोई पिता अपने पुत्र को सम्पत्ति का अधिकार सौंपता है तो उस समय उस व्यक्ति के मन में न तो सम्पत्ति के प्रति कोई राग ही रहता है क्योंकि वह समझता है कि यह मेरा पुत्र है एवं मेरी सम्पत्ति का मालिक बन रहा है। पुत्र मालिक है तो मैं स्वयं ही मालिक हूँ। मेरा पुत्र सुखी रहे; इसी में मैं सुखी हूँ। इसी भावना के आधार पर न तो कोई राग ही रहता है और न कोई ईर्ष्या।

इन ही भावनाओं के अनुसार जब सभी सुखी जनों को देखकर मन में मैत्री की भावना करेगा तो उसके मन से रागकालुष्य और इर्ष्याकालुष्य दोनों का अभाव हो जायेगा।

इसी प्रकार से दु:खित प्राणियों पर दया करने से परोपकार चिकीर्षा रूप मल का नाश हो जाता है। वह किसी को सताना नहीं चाहता। वह समझता है जिस प्रकार मुझे अपने प्राण प्यारे हैं उसी प्रकार इन सभी प्राणियों के प्राण मेरे अपने ही प्राण है। यह समझकर साधक सबके प्रति दया की भावना करता है। यह भावना साधक के कल्याण की मूल एवं महत्वपूर्ण भावना है। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

'आत्मन: प्रतिकूलानि परेभ्यो न समाचरेत्।।'

जो बातें हमें अच्छी नहीं लगती हैं, वह सब हम दूसरों के लिए भी वैसा न करें। हमें यदि अपनी बुराई सुननी पसन्द नहीं है तो हम दूसरों की बुराई न करें। अपना अपमान सहन नहीं है तो दूसरों का अपमान न करें। जिस साधक के मन में यह धारणा दृढ़ हो जाया करती है उसके मन से परापकार चिकीर्षारूप कालुष्य सदा सर्वदा के लिए दूर हो जाया करता है।

(3) जो व्यक्ति धर्म परायण, परोपकार-परायण पुण्यात्मा लोगों को देखकर हर्षित रहता है उसके मन से असूया रूप मल निकल कर पवित्रता छा जाती है।

(4) पापात्मा लोगों के प्रति जो उपेक्षा-भाव है। ऐसा करने से योगी के मन से द्वेष और आमर्षक भाव बिल्कुल हट जाते हैं। वह उनके प्रति द्वेष नहीं करता। योगी सोचता है– यह स्वयं ही पापात्मा एवं निम्न कर्मों में रत है तो इससे मैं क्या ईर्ष्या करूँ? ऐसी भावना से चित्त में बदला लेने की भावना खुद ही नष्ट हो जाती है। इस प्रकार इन चार प्रकार की भावनाओं से योगी के चित्त के मल शान्त हो जाते हैं और योगी कहने लगता है कि–

निन्दन्तुनीति निपुणा यदिवास्तुवन्तु लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव मरणस्तु युगान्तरेवा, न्यायात्पथ: प्रविलन्ति पदं न धीर:।।

अर्थात् नीति निपुण लोग, निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मी अपनी इच्छानुसार आये या चली जायें, मृत्यु आज ही हो जाए या सौ वर्ष के बाद हो किन्तु फिर भी धीर पुरुष न्यायमार्ग से अपने मन को विचलित नहीं करते। मैत्रीकरुणामुदितादि का पालन करते हुए संयम के आधार पर योगी के अन्दर यह सब बल पूर्ण बल पकड़ जाते हैं और वह योगी अगाध करुणा का समुद्र बन जाता है। इसीलिए भगवान पतञ्जलिदेव ने विभूतिपाद की विभूतियों में **'मैत्र्यादिषु बलानि'** कहकर मैत्री करुणादि के अन्दर संयम करना उपयुक्त समझा। ज्यों-ज्यों योगी अपने संयम की शक्ति बढ़ाता है त्यों-त्यों उसका संयम अधिकाधिक बल पकड़ता चला जाता है। वह अपने अन्दर जिस प्रकार की भी शक्ति का आकर्षण करना चाहें; वह शक्ति उसमें बढ़ जाती है। योगियों के चरित्रों में इस प्रकार की कथायें मिलती हैं कि अमुक महात्मा अमुक स्थान पर निवास करते थे। उनकी गुफा के द्वार पर हजारों मण का पत्थर लगा रहता था और वह जब गुफा से बाहर निकलना चाहते तो अपने आप अपनी बाजुओं से उसको हटा दिया करते थे और जब गुफा में अन्दर प्रवेश करना चाहते तो उसी प्रकार अपने बाजुओं से उसे लगा लिया करते थे। यह बातें सुनकर लोगों को बड़ा ही आश्चर्य होता है कि योगी के अन्दर इतना बड़ा बल कहाँ से आ जाया करता है। उनको इस बात का पता नहीं है कि बलों का खजाना योगी के अपने अन्दर है वह संयम के आधार पर सभी प्रकार के उत्कृष्ट पुण्य और बलों को आकर्षित कर सकता है। इसी का संकेत करते हुए भगवान पतञ्जलि देव लिखते हैं-

बलेषु हस्ति बलादीनि।। 24 वि.पा.

अर्थात् बलों के अन्दर संयम करने से योगी को हस्ती बलादि अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

श्री व्यासदेवजी इस सूत्र पर अपना भाष्य इस प्रकार करते हैं-

हस्तिबले संयमाद् हस्तिबलो भवति,
वैनतेय बले संयमाद् वैनतेय बली भवति,
वायुबले संयमाद्वायुबल इत्पेवमादि।।

अर्थात् योगी को हाथी का बल प्राप्त हो जाया करता है। यदि गरुड़ व वायु के बल में संयम करे तो गरुड़ और वायु का बल भी उसको प्राप्त हो जाया करता है। यह है बल में संयम करने वाले योगी के संयम का उत्कृष्ट परिणाम।

अत: इस लेख को पढ़ने वाले को चाहिए कि वह अपने अन्दर आत्मिक बल को बढ़ायें और योगारूढ़ बनें जिससे अपूर्व आत्मिक निधि प्राप्त कर सकें।

यौगिक विचार-प्रसून

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योगी जिस समय निर्बीज समाधि में समाधिस्थ होता है उस समय वह अपने नित्य शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है। किन्तु ज्योंहि समाधि से उठता है तो यह नियम है कि वह वृत्ति सारूप्य हो जाता है अर्थात् व्युत्थान के समय जैसी चित्त-वृत्ति होती है पुरुष उसमें मिला हुआ सा ही रहता है। इसीलिए योग दर्शनकार ने कहा है- वृत्ति सारूप मितरत्र

× × ×

जहां पर साधक को असम्प्रज्ञात का उदय होता है वहां पर चित्त-वृत्तियों का गुणाधिकार भी समाप्त होने लगता है। और जहां गुणाधिकार समाप्त होता है वहीं से असम्प्रज्ञात योग का शुभारम्भ होने लगता है। इस गुणाधिकार की समाप्ति के लिये यह आवश्यक है कि साधक चित्त उसकी वृत्तियों के भेदों से भली प्रकार परिचित हो। परिचित होने पर ही वह उनके गुण धर्म आदि को जान सकेगा।

× + ×

जो मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर आता है वह दृश्य की त्रिगुण सत्ता से निकलना चाहते हुए भी नहीं निकल सकता क्योंकि उस पर गुणात्मक प्रभाव बना ही रहता है और मन में जिस प्रकार का गुणप्रभाव होता है मनुष्य उसी प्रकार की चेष्टायें किया करता है। यही चेष्टायें (हरकतें) कर्म का रूप धारण कर लेती हैं। मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा का मूर्त परिणाम कोई न कोई कर्म ही होता है। योगदर्शन में भगवान पतञ्जलि देव ने लिखा है कि मनुष्य की हर चेष्टा जिनसे अच्छे-बुरे का सम्बन्ध जुड़ रहता है अर्थात् कुशला-कुशलानि- यही ठीक प्रकार से कर्म की परिभाषा है और जिसमें कुशलाकुशल कर्म जमा होते रहें उसी को कर्माशय कहा जाता है। यह कर्माशय क्लेश मूलक होता है अथवा यों समझ लीजिए कि क्लेशों के आधार पर ही कर्माशय का आरम्भ होता है।

× × ×

यह कर्माशय दो प्रकार का माना गया है। एक दृष्ट जन्म वेदनीय और दूसरा अदृष्ट जन्म वेदनीय। कर्म मीमांसा पर विश्वास न करने वाले व्यक्तियों के लिए दृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय एक सच्चे साक्षी के रूप में हमारे सामने आता है। यथा जो व्यक्ति सदाचार परायण और स्वाध्यायशील होते हैं, गुरुप्रदत्त मन्त्र का जप करते हैं, तप का मार्ग अपनाते हैं समाधि का अभ्यास करते हैं ईश्वर, देवता और ऋषि-मुनियों के प्रति श्रद्धा और आस्था रखते हैं उनके पुण्यमय कर्माशय का परिपाक बहुत शीघ्र हो जाया करता है और उनके पुण्य कर्मों का फल तत्काल सामने आ जाया करता है। आवश्यकता इस बात की है साधक सभी साधनाओं को तीव्र संवेग के साथ करता रहे।

× × ×

इसी प्रकार इसके प्रतिकूल जो मनुष्य पाप कर्मों में रत रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि जिनकी वृत्तियों में समाये रहते हैं। देवता और तपस्वियों का अपमान करते रहते हैं। शास्त्र के वचनों पर जिन्हें विश्वास नहीं होता वे भी अपने पापमय कर्माशय का फल शीघ्र इसी जन्म में पाया करते है क्योंकि उनके सभी तामसी और रजोगुण प्रधान आचरण तीव्र संवेग के साथ हुआ करते हैं। अत: साधक को चाहिए कि वह पुण्यमय कर्माशय की पूर्णता नित्य करते रहें ताकि वे उत्तरोत्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहें।

× × ×

लेकिन इस सत्य को भी नहीं भूलना चाहिए कि क्षीण क्लेश योगियों के पाप-पुण्य फल का दाता कर्माशय नहीं हुआ करता। जो साधक दृढ़तर अभ्यास में संलग्न रहते हैं, वे अपने पाप-पुण्य के कर्माशय को खत्म करके निष्काम

कर्मयोगी बन जाया करते हैं और ऐसे योगी किसी भी प्रकार कर्म-फल के बन्धन में नहीं बँधा करते। फलासक्त प्राणी ही कर्म बन्धन में पड़ा करते हैं। अत: साधकों को उचित है कि केवल लोक संग्रह के लिए ही कर्म करते रहें। लोक संग्रह के हेतु किये कर्म ही निष्काम कर्म कहलाते हैं। निष्काम कर्म का अर्थ यही है कि जो कुछ भी किया जाय उसका फल भगवान या भगवान की सृष्टि के प्राणियों को अर्पित कर दिया जाय। कर्मों के फल की स्वार्थमय अभिलाषा ही बन्धन का कारण बन जाया करती है।

× × ×

भगवान पतञ्जलि देव ने 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा- अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान से भी समाधि लाभ होता है। जब इस सूत्र की रचना की तब उनसे पूछा गया कि 'ईश्वर क्या है' यह बताने की कृपा करें तब उन्होंने तत्काल कहा—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुष विशेष ईश्वर:

अर्थात् क्लेश कर्म उनके फल और वासनाओं से अपरामृष्ट अर्थात् स्पर्श न किया हुआ, अन्य पुरुषों से से उत्कृष्ट है वह ईश्वर है। भगवान पतञ्जलि देव ने आगे फिर कहा तंत्र निरतिशय, सर्वज्ञ बीजम्-अर्थात् ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है यानी उस ईश्वर से बढ़कर अब तक न कोई हुआ है न होगा और वह **'पूर्वेषामपि गुरु: कालेनावच्छेदात्'** अर्थात् वह काल की सीमा से भी परे है सबसे पहले वह था इसलिए वह हिरण्यगर्भादि का भी गुरु है। यही संक्षेप में ईश्वर का स्वरूप है जो ऐसे सर्वोत्कृष्ट, सर्वेषामपि गुरु और सर्व शक्ति सम्पन्न ईश्वर को अनन्य भाव से भजता है वह भी सहज समाधि के लाभ का अधिकारी अनायास ही हो जाया करता है।

× × ×

तस्य वाचक: प्रणव:।

प्रणव अर्थात् ओ3म् ईश्वर का अभिमुखीकरण बोधक नाम है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी की सत्ता प्रणव में विलीन हो जाती है। इन तीनों की उत्पत्ति इसी प्रणव से है। प्रणव अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है— इसलिए प्रणव का जप करते हुए हम ईश्वर का अभिमुखीकरण कर सकते हैं यानी हम ईश्वर-सत्ता का सामीप्य प्राप्त कर सकते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म,
व्याहरन्मामनुस्मरन्
य: प्रयाति त्यजन्देह
स याति परमां गतिम् **गीता 8:13**

× × ×

चित्त कि वृत्तियां शाखा प्रशाखा रूप से चाहे कितने ही रूप धारण कर लें किन्तु वे सब की सब प्रमाण, विपर्य्यव, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति के अन्तर्गत ही होती है। इन वृत्तियों के निरोध होने पर छोटी-मोटी सभी वृत्तियां स्वत: ही निरुद्ध हो जावेंगी।

× × ×

संयमित मन वाले योगी की बुद्धि शुद्ध और परम निर्मल होने के नाते वह जिस वस्तु का साक्षात्कार करना चाहेगा उसका साक्षात्कार उसके संकल्पमात्र से ही हो जाया करता है। संकल्प मात्र से ही वह वस्तु तत्व को जान लेता है। क्योंकि उसके शुद्ध सात्विकमन में उस परम सद्गुरु का प्रकाश सदा भरा रहता है।

× × ×

स्वाध्याय और जप ही जीवात्मा को परमात्मा की ओर अभिमुख करने का मुख्य साधन है। जो मनुष्य अनवरत स्वाध्यायशील रहता है एवं ईश्वर के प्रमुख नाम प्रणव (ऊँ) का जप करता है वह अल्प समय में ही अपने अभ्यास के बल से ईश्वर को अपनी ओर अभिमुख कर लेता है और ईश्वराभिमुख होने के परिणामस्वरूप समाधि को पा जाया करता है। समाधि लाभ होने पर सभी प्रकार के अन्तराय एवं पापों का नाश हो जाया करता है। अत: योगमार्ग के साधक को सदैव स्वाध्यायशील रहना चाहिए और बिना किसी प्रमाद के ईश्वर के मुख्य नाम 'प्रणव' को जाप आराधना में तन्मय रहकर प्रभु का सानिध्य प्राप्त करते रहना चाहिए।

× × ×

एक साधक ने उपर्युक्त सन्दर्भ में पूछा— गुरुदेव ईश्वराभिमुख का मतलब क्या है? ईश्वर तो हर समय रहता ही है। मैंने कहा- ठीक है ईश्वर हर समय हर जगह है किन्तु अभिमुखीकरण का अर्थ है ईश्वरीय तेज का अनुभव करना। जब इस ईश्वरीय तेज को जीव निरन्तर की जप-साधना से अपने में साक्षात् अनुभव कर लेता है तो सिन्धु में बिन्दु की तरह वह स्वयं सत्ता को सदा सर्वदा के लिए परमात्मा-सत्ता में विलीन कर देता है यानी वह परमात्मा-सत्ता से एक रूप हो जाता है इसी जीव सत्ता और परमात्मा-सत्ता की एकरूपता का नाम समाधि है।

समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मन:

× × ×

ईश्वर प्रणिधान के द्वारा समाधि सिद्धि का साधन सरलतम साधन है। अन्य साधनों के समान इसमें कष्ट नहीं उठाना पड़ना आवश्यकता है केवल प्रभु के अनन्य चिन्तन की अनवरत ध्यान की और सर्व कर्म समर्पणता की। ब्रज गोपिकाओं के समान—

ना मैं देखौं और कूँ

ना तोहि देखन देहु

आरे मेरे मोहना

पलक मूंदि तोहि लेहुँ

अनन्य चिन्तन की जब ऐसी स्थिति हो जाती है तभी जीव की अपनी सत्ता परमात्मा सत्ता का साक्षात्कार कर लेती है— इसी को कहते हैं सहज समाधि।

योग मार्ग के साधक के लिए 'एकान्तवास' का विशेष महत्व है। आदिकाल से इसीलिए योगियों के स्थान (मठ आदि) निर्जन स्थानों में हुआ करते थे। यदि साधना का स्थान एकान्त प्रदेश में नहीं है तो अभ्यास भली प्रकार नहीं हो सकेगा। लेकिन स्थान की एकान्त प्रियता भोगविलास में रत रहने वाले व्यक्तियों में नहीं भा सकती। ऐसे लोगों का एकान्तवास उनमें दुर्भावनाओं की वृद्धि ही करेगा। अत: एकान्तवास के इच्छुक साधकों को अपरिग्रह, एक ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करने वाला होना चाहिए। यती और व्रती साधक ही एकान्तवास की महिमा को समझकर उसे पाने का प्रयत्न करते हैं।

मनुष्य का मन ज्यों-ज्यों पवित्र होकर दुर्वासनाओं से दूर होता जाता है त्यों-त्यों उसकी संकल्प शक्ति बलवान होती चली जाती है। संकल्प शक्ति के सहारे मनुष्य बड़े-बड़े ऐश्वर्यों की उपलब्धि कर लिया करता है इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है **'संकल्पमयो अयं पुरुष:'** अर्थात् मनुष्य संकल्पों का ही रूप है। व्रत नियम आदि सबका जन्म और स्थिति संकल्प से ही माने जाते हैं यह संकल्प मन की एक निश्चयात्मक शक्ति होती है। इसीलिए वेदों में कहा गया है-

तन्मे मन: शिव संकल्पमस्तु

अर्थात् मेरा मन पवित्र संकल्पों वाला हो। योग पथ में मन के पवित्र संकल्पों की बड़ी महिमा है। बिना पवित्र संकल्पों के योगाभ्यास की कोई भी साधना दृढ़तर नहीं हो सकती।

योगी को सूक्ष्म व्यवहित एवं विप्रकृष्ट ज्ञान

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने 'सिद्धयोग में के गत एक अङ्क में योगी को मैत्र्यादिषु बल किस प्रकार प्राप्त होते हैं इस विषय को समझाने का प्रयत्न किया था। अपने लेख में हमने महर्षि पतंजलिदेव की दिव्यानुभूतियों का व्यासभाष्य के अनुसार जो स्पष्ट आलोक है, उसे स्पष्ट करते हुए बताया था कि जो योगी धारणा ध्यान समाधि के प्रकार को भली प्रकार समझकर संयम पद्धति को जान लेता है वह वस्तु तत्व की यथार्थता को भली प्रकार से जान लेता है। भगवान पतंजलि देव ने जहां मैत्री आदि का बल प्राप्त होने का साधक को वर दिया, वहां इस ही प्रकार **'बलेषु हस्थि बलादीनि'** कहकर शारीरिक बल प्राप्त कर लेने की विधि का निर्देशन भी किया है। जहां योगी का मनोबल मैत्रीकरुणदि बलों से पूर्ण हो वहां पर शारीरिक बल की भी बहुत बड़ी आवश्यकता रहती है। इसीलिए भगवान पतंजलिदेव ने बताया कि बलों के अन्दर संयम करने से योगी को हस्थिबलादि अनायास ही प्राप्त हो जाया करते हैं और वह इन बलों की निधि बन जाता है। इससे आगे के सूत्र में महर्षि पतंजलि जी ने एक और महान विषय का उपदेश किया। वे कहते हैं कि—

प्रवृत्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्टज्ञानम्।।

व्यासभाष्य में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

ज्योतिष्मती प्रवृत्तिरुक्ता मनसस्तस्या य आलोकस्तं योगी सूक्ष्मे वा व्यवहिते वा विप्रकृष्टे वाऽर्थे विन्यस्य तमर्थमधिगच्छति।

अर्थात् प्रवृत्ति के प्रकाश में संयम करने पर योगी को सूक्ष्म व्यवहित एवं विप्रकृष्ट ज्ञान अनायास ही होने लगता है।

सूक्ष्मज्ञान—

सूक्ष्मज्ञान का अर्थ है ऐसे अव्यक्त तत्त्व जिनको मनुष्य अपनी इन आंखों के प्रकाश से देख ही न सके। उसको और किसी के बल के सहारे की आवश्यकता पड़े, तब ही देख पाये, उसी को सूक्ष्मज्ञान कहते हैं। जैसे आकाश मण्डल के अन्दर सूक्ष्म परमाणु छिपे रहते हैं जिनको सूक्ष्म दर्शक यन्त्र द्वारा ही देखा सकता है, अन्यथा देखा ही नहीं जा सकता। दही के अन्दर छोटे-छोटे कीटाणु रहते हैं, किन्तु मनुष्य की साधारण आंखों से वे नजर नहीं आते परन्तु सूक्ष्म दर्शक यन्त्र से उन्हें देखा जा सकता है। इसी प्रकार से इस आकाश मंडल के अन्दर जितने भी सूक्ष्मतम् तत्त्व विद्यमान हैं वे योगी को प्रवृत्या लोक में संयम करने से उसकी दृष्टि में आ जाते हैं और वह उनको देख लेता है।

व्यवहित ज्ञान—

अर्थात् पृथ्वी के गर्भ में हैं या जल-गर्भ समुद्रादि के अन्दर जो जो वस्तुऐं छिपी हुई हैं उन सभी का प्रवृत्यालोक में संयम करने से योगी को ज्ञान हो जाता है। जैसे पृथ्वी गत धन, पहाड़ों के अन्दर सोने-चांदी आदि की खानें यह सभी कुछ योगी के संयम का विषय बन जाता है।

विप्रकृष्टज्ञान—

विप्रकृष्टज्ञान का अर्थ है दूर का देखना।

मनुष्य की स्थूल आंखें अधिक से अधिक दो ढाई फर्लांग देखने की ताकत रखती हैं, इससे आगे दृष्टि नहीं जाती। और एक या दो फर्लांग की दूरी में भी छोटी वस्तुयें तो नजर में आती ही नहीं। यह मनुष्य की स्थूल दृष्टि की दशा है। मनुष्य की अपेक्षा गिद्धादि पक्षियों को कहीं अधिक दूर तक का दिखता है। किन्तु मनुष्य कर्म करने की सामर्थ्य रखता है अपने पुरुषार्थ के आधार पर वह सभी शक्तियों को प्राप्त कर

सकता है। प्रवृत्ति के प्रकाश में संयम करने से योगी को दूर-दर्शन की शक्ति भी अनायास ही प्राप्त हो जाया करती है। क्योंकि प्रवृत्यालोक आवरण रहित शुभ सत्त्व प्रकाश है।

इस लेख में विचारने वाली बात बस एक ही है वह यह कि प्रवृत्यालोक किस वस्तु का नाम है। जो व्यक्ति योग की परिभाषाओं को नहीं जानता है वह योग के इन पारिभाषित शब्दों को समझ भी नहीं सकता। योगदर्शन के समाधि पाद में दो प्रकार की प्रवृत्तिओं का वर्णन पहले आ चुका है। जिनमें से विषयवती प्रवृति प्रथम एवं विशोका ज्योतिष्मती दूसरी है इन दोनों प्रवृत्तियों का वर्णन योगदर्शन के समाधि पाद के अन्दर इस प्रकार किया गया

विषयवती बा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी।।

इस सूत्र पर व्याष भाष्य की पंक्तियें पढ़िये—

नासिकाग्रे धारयतोस्य या दिव्यगन्ध संवित्, सा गन्ध प्रवृत्तिः, जिह्वाग्रे दिव्यरस संवित्, तालुनि रूप सांवेत, जिह्वामध्ये स्पर्श संवित जिह्वामूले शब्द संधित्, इत्येताः प्रवृत्तयः उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निवध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायाञ्च द्वारीभवन्तीति, एतेन चन्द्रादित्य ग्रहमणि प्रदीप-रत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या, यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमाना चार्योपदेशैरव-गत-मर्थतत्वं सभूद्तमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थ-प्रतिपादनसामर्थ्यात् तथापि सावदेकदेशोपि कश्चिन्न स्वकरण संवद्यो भवति, तावत्सर्व परोक्षमिता-पवर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढ़ा बुद्धिमुत्पादयति तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशोपोद्धलनार्थ-मेवा-वश्यं कश्चिदर्थविशेष प्रत्यक्षी कर्त्तव्यः तत्र तदु-पदिष्टार्थैक-देशस्य प्रत्यक्षत्वे सति सर्व सुसूक्ष्म-विषयमय्या-पवर्गात्सुश्रद्धीयते, एतदर्थ मेवेदं चित्त-परिकर्म निर्दिश्यते, अनियतासु वृत्तिषु तद्विषयायां वशीकारसंज्ञायामु-पजातायां समर्थ रयतस्यार्थस्य प्रत्यक्षी करणायेति, तथा च सति श्रद्धावीर्य स्मृति समाधयोऽस्या प्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति।।

अर्थात् योगी साधक यदि नासिका के अग्रभाग में चित्त संयमित करता है तो उसको थोड़े दिन के अभ्यास के बाद दिव्य रन्धों का साक्षात्कार अपने आप ही होने लगता है इसी को गन्ध प्रवृत्ति कहते हैं। गन्ध ध्राणेन्द्रिय का विषय है इसलिए इस प्रवृत्ति का नाम गन्ध प्रवृत्ति है। जिह्वा रसनेन्द्रिय है और जिह्वा के अग्रभाग में रस का स्थान है। जिह्वा के अग्रभाग में संयम करने से योगी को दिव्य रसों का आस्वाद अनायास ही मिलता है इसलिए इस प्रवृत्ति का नाम रसप्रवृत्ति है। जिह्वाग्र में संयम करने से दिव्य-रसों की प्रवृत्ति अवश्य अवश्य होती ही है अतः यह रस प्रवृत्ति भी उपरोक्त गन्ध प्रवृत्ति के समान योगी के चित्त को एकाग्र बना देती है। जिह्वा के ऊपर मुख का ऊपरी भाग तालु कहलाता है भगवान व्यास देव अनुभूत बात कहते हैं कि **'तालुनि रूप संविन्'**, अर्थात् तालु में संयम करने से नानावर्णाकृति वाले रूप का ज्ञान होने लगता है, यह प्रवृत्ति रूप को विषय करती है। इसलिए रूप संबन्धी विषय वाली होने से यह विषयवती है। जिह्वा के मध्य भाग में वायु का स्थान है इसलिए यदि कोई योगी जिह्वा के मध्य भाग में संयम करता है तो उसको स्पर्श ज्ञान का अनुभव होने लगता है यह प्रवृत्ति स्पर्श ज्ञान का अवलम्ब होने से स्पर्शवता अर्थात् स्पर्श विषय वाली है। इसी प्रकार जिह्वा के मूल भाग में आकाश तत्व की प्राधानता होने से संयम करने पर योगी को विविध प्रकार के शब्द सुनाई देने लगते हैं एवं उसको शब्द-ज्ञान होता है। यह सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ योगी के चित्त को एकाग्र करती हैं। संशयों का नाश करती हैं। समाधि प्रज्ञा की ओर बढ़ाती हैं। इसी प्रकार से सूर्य चन्द्रमादि ग्रह मणि प्रदीप रत्नादिकों में जो प्रवृति बनती है वे सभी विषयवती हैं। ये सब तत्वार्थ यदि शास्त्र अनुमान और सद्गुरु रूप पूर्ण आचार्यों द्वारा प्राप्त हुआ है तो सत्य ही है। किन्तु फिर भी अपनी इन्द्रियों द्वारा योगी स्वयं अनुभव न कर ले तब तक मोक्ष मार्ग में दृढ़ श्रद्धा को उत्पन्न नहीं हुआ करती। इसलिए साधक को चाहिए शास्त्र अनुमान और आचार्यों द्वारा प्राप्त ज्ञान को भी स्वान्तःकरण संवेद्य बनाये और निजानुभूति के द्वारा उसकी पुष्टि करें। इस प्रकार का अभ्यास करते-करते मनुष्य के मन में श्रद्धा, दृढ़ता, स्मृति, समाधि

अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। इन प्रवृत्तियों को विषयवती प्रवृत्ति कहा गया है। यह विषयवती प्रवृत्तियें भी योगी के चित्त को एकाग्र बनाती हैं। समाधि प्रज्ञा को प्रगट करती हैं और मुक्ति के द्वार की ओर ले जाती हैं। अत: सभी के लिए अभ्यसनीय हैं।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति

दूसरी प्रवृत्ति विशोका ज्योतिष्मती, के नाम से भगवान पतंजलिदेव ने लिखी है। सूत्र इस प्रकार है—

विशोका वा ज्योतिष्मती

इस पर व्यास भाष्य इस प्रकार है—

प्रवृत्ति रुत्पन्ना मनस: स्थितिनिवन्धनीत्य-नुवर्त्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धि संवित्।

बुद्धि सत्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थिति वैशारद्यात्प्रवृत्ति: सूयेन्दुग्रहमणि प्रभारूपाकारेण विकल्पते तथा स्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहो-दधिकल्प शान्तमनन्तमस्तिमतामात्रं भवति, यत्रे-दमुक्तं तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येयं तावत्सं-प्रजानीते इति एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितमात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मती त्यच्यते, यया योगिनश्चित्तं स्थितिपद लभते इति।

विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के लिए श्री व्यास देव जी ने ध्यान करने की विधि का संकेत किया। एक योगी जो हृदय कमल में ध्यान करता है तो उसको बुद्धि में सत्व का प्रकाश होता है। उसी सत्व प्रकाश में प्रवृत्ति बन जाने से सूर्यचन्द्र ग्रह मणि आदि के प्रकाश में रूष्टाकार वाली प्रवृत्ति बदल जाती है उससे स्थिति पद को पाकर योगी अस्मि प्रत्यय वाली बुद्धि वृत्ति का ध्यान करने लगता है। उस स्थिति में निस्तरंग महोदधि के समान सब वृत्तियों से हटकर चित्तशान्त हो जाता है और योगी अपने अणु मात्र स्वरूप को अस्मि अहमेवास्मि यह मैं ही हूँ ऐसा मनन करता हुआ अपने आप को शुद्ध प्रकाशमय देखता है। इसी का नाम विशोका ज्योतिष्मती है। यह भी प्रवृत्ति विषयवती ही मानी जाती है। किन्तु पहली प्रवृत्तिओं की अपेक्षा यह उत्तम है क्योंकि इसमें निरंतर अभ्यास करने से स्फुट प्रज्ञालोक हो जाता है और योगी मोक्ष-द्वार तक पहुँच जाता है इन प्रवृत्तियों के निरन्तर अभ्यास से स्फुट प्रज्ञालोक वाला विशुद्ध प्रकाश ही प्रवृत्यालोक कहलाता है। इसलिए भगवान पतंजलि देव ने सूक्ष्म व्यवहित एवं विप्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रवृत्यालोक में संयम करना उचित समझा। जिससे सूक्ष्म व्यवहित एवं विप्रकृष्ट ज्ञान उत्तमता के साथ अवश्य हो ही जाता है। इसी विषय को भगवान पतंजलिदेव ने प्राणायाम के फल के रूप में भी वर्णन किया है रजतम का आवरण इन्द्रियों के प्रकाश के रास्ते में एक रुकावट है। वह इन्द्रियों की शक्ति को अपने अधिकार तक नहीं पहुँचने देता इसलिए महर्षि पतंजलिदेव ने प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास का फल बतलाया।

तत: तीक्षते प्रकाशावरणम्।

अर्थात् प्राणायाम करने से इन्द्रियों की दूर-स्पर्शन दूर दर्शन दूर श्रवण आदि की शक्ति पूर्णरूपेण बढ़ जाती है। प्रवृत्यालोक भी वही शुद्ध प्रकाश है, उसका संयम राजयोग की साधना का रूप है और प्राणायाम हठयोग की साधना का रूप है। योगी यदि अपने संयम को दृढ़ करता चला जाय तो योगी को अपनी साधना के बल पर ही ये सब परिणाम होने लगते हैं। प्रवृत्यालोकन्यास वही साधक कर सकता है जिसने अपने दृढ़तम अभ्यास के द्वारा संयम को परिपक्व कर लिया हो।

सार्वभौम विद्या योग

विशेष लेख :– श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग अध्यात्म विद्या है, मानव मात्र इसका अधिकारी है। यह एक दूसरी बात है कि कोई व्यक्ति योग की परिभाषा न समझकर इसको अपने मन से साम्प्रदायिकता का स्थान देता रहे। साम्प्रदायक लोग '**मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्ना**' के नियमानुसार अपने मनोनीत नियमों का संकलन करके अपने सम्प्रदायों को चलाते हैं। उनके सभी नियम सभी को प्रिय नहीं होते। हमारी योग विद्या एक इस प्रकार की योग विद्या है जिसमें ज्ञान और विज्ञान के स्वरूपों को समझाकर मनुष्यों को पूर्णता की ओर ले जाया गया है। भगवान पतंजलि देव ने '**योगश्चित्त वृत्ति निरोधः**' कह करके अपने पातंजलि योग–दर्शन में योग की परिभाषा बताई है। चित्त–वृत्ति निरोध का अर्थ है— चित्त की वृत्तियों का निरन्तर शमन अर्थात् सीमा तक पहुँची हुई चित्त वृत्तियों का बिल्कुल रुक जाना। चित्त वृत्तियाँ त्रिगुणात्मिका होती हैं। सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण ये तीनों प्रकृति सम्भव गुण हैं। ये तीनों गुण ही योगी के चित्त को मलिन रखा करते हैं। जिस समय चित्त सतोगुण प्रधान रहता है उस समय रजोगुण और तमोगुण उसके अनुगामी रहा करते हैं। ऐसा सतोगुण प्रधान चित्त आत्म स्वरूप अध्यात्म ऐश्वर्य में प्रेम करने वाला होता है और इसके विपरीत रज और तम प्रधान चित्त अवैराग्य, अनैश्वर्य एवं अन्धकार आलस्य की ओर बढ़ाने वाला होता है। योगी अपने चित्त की त्रिगुण प्रवृत्तियों को हटाकर चित्त वृत्तियों का निरोध करता है, एवं अपने आप को केवली भाव की ओर ले जाता है। कैवल्य लाभ करना ही योगियों का परमलक्ष्य है। यह लक्ष्य भूमंडल पर जन्म लेने वाले हर मानव का हो सकता है। इसका किसी के मजहब या सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं। आवश्यकता तो इसी बात की है कि साधक मननशील मनुष्य हो। यह विचारने की आवश्यकता नहीं कि उस का जन्म कहाँ हुआ है। वह किन मन्तव्यों को मानने वाला है? भले ही वह यहूदी हो, फारसी हो, हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हो आवश्यकता इस बात की है कि वह मननशील मानव हो। मननशील मानव योग का अधिकारी है। यदि उसके मन में योग की सच्ची जिज्ञासा पैदा हो गई है तो वह योगोपदृष्टा योग्य सच्चे आचार्य गुरु की शरण लेकर इस विद्या में प्रवेश कर सकता है तथा प्रवेश कर जाने के बाद दृढ़तर अभ्यास में लगे रहने वाला व्यक्ति योग की पराकाष्ठा को अवश्य ही पा जाता है। अखिलात्मा योगयोगश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता के छठे अध्याय में युक्त योगी का लक्षण इस प्रकार बतलाया है—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्तः इत्युच्यते योगी सम लोष्टाश्मकांचनः।।
गीता 6:8

जिसका अन्त:करण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति अचर, स्थिर विकार रहित है। जिसकी दृष्टि में लोहा सोना–मिट्टी–पत्थर समान रूप से ही दिखाई देते हों किन्तु यह स्थिति प्राप्त उसी को हो सकती हैं जिसने योग का क्रमश: अभ्यास किया हो। योग की वर्णाक्षरी मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है। मन सब शक्तियों का भंडार है। इन्द्रियां उसको अपने–अपने विभिन्न विषयों में प्रतिक्षण प्रेरित करती रहती हैं अत: वह इन्द्रियों के विषय रूप रस गंध आदि में भटकता रहता है। योगी का सबसे पहला लक्ष्य है कि रूप रस गंधादि में भटकने वाले अपने मन को प्रत्याहार के द्वारा लौटा–लौटा कर धारणा के द्वारा एकाग्र करें। किसी एक लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना ही धारणा कहलाती है। यह योगी की पहली वर्णाक्षरी, है जिसका अध्ययन करने वाला साधक धारणा ध्यान समाधि

का अभ्यास करता हुआ संयम तक पहुंच जाता है एवं संयमित चित्त वाला योगी ही ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा हो सकता है। ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा के अर्थ को हर व्यक्ति सम्भवत: नहीं समझता होगा। अत: थोड़ा सा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा का अर्थ है प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर उस पर पूर्णाधिकार प्राप्त करना। जैसे जल में न डूबना, अग्नि से न जलाया जाना, पाताल प्रवेश करना, आकाश गमन करना, ये सभी कार्य प्रकृति के नियमों को समझकर उस पर विजय प्राप्त कर लेने वाली बात है। जो साधक अपनी साधना के बल से प्रकृति के इस प्रकार के सभी नियमों को समझकर उन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है वह ज्ञान तृप्तात्मा कहलाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने संयम को उत्कृष्ट बढ़ाकर आत्मसाक्षात्कार कर लेता है एवं प्रातिभश्रवण वेदना आदर्श आदि आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है वह विज्ञान तृप्तात्मा कहलाता है। ज्यों-ज्यों साधक आत्म साक्षात्कार के निकट पहुंचता है त्यों-त्यों उसके मन में अपने आप ही प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाया करता है। जिस प्रकार से प्रात: कालीन ऊषा काल में हर व्यक्ति को धुंधले-धुंधले प्रकाश में सब मकान आदि दिखलाई देने लगते हैं इसी प्रकार से योगी की बुद्धि में सभी सूक्ष्म भाव शुद्ध सत्य के रूप में आभासित होने लग जाते हैं। यही उसका प्रातिभ ज्ञान है। प्रातिभ ज्ञान के साथ-साथ दूर-दूर की बातें सुनना, दूर-दूर के देशान्तरों को देखना, दूर-दूर की वस्तुओं का स्पर्श करना आदि-आदि शक्तियाँ भी योगी के अन्दर स्वाभाविक रूप से उदित हो जाती हैं। इन सब शक्तियों के उदय हो जाने के बाद योगी का मन अपने आप ही आत्मलीन रहने लगता है। वह कूटस्थ हो जाता है। उसकी बुद्धि वृत्ति आत्माकार बनी रहने लगती है। अत: किसी भी विकार का उसके मन में उदय नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति में स्थिर रहने वाले योगी की दृष्टि में लोहा-सोना पत्थर सब समभाव से रहने लगते हैं। वह वासना तृष्णा के जाल से बिल्कुल-बिल्कुल दूर हो जाता है। प्राणि मात्र को अपना आत्म समझता है, एवं अपने आप को भी प्राणिमात्र के अन्दर आत्मत्वेन देखता है। यही उसकी पराकाष्ठा को प्राप्त हुई योग स्थिति है। उसकी दृष्टि में वर्ण भेद और जाति भेद सब मिट जाते हैं। अत: योग विद्या ही एक इस प्रकार की विद्या है कि जिसको सार्वभौम विद्या कहा जा सकता है। क्योंकि पृथ्वी पर जन्म लेने वाले सभी व्यक्ति अपने-अपने अधिकार भेद से इसके अधिकारी हैं। हमारे पूर्वज महापुरुषों ने अधिकार भेद को अवश्य माना है। अधिकार भेद का अर्थ किसी जाति पांति से सम्बन्ध नहीं रखता प्रत्युत योग्यता से सम्बन्ध रखता है। जैसे पहली कक्षा में पढ़ने वाला विद्यार्थी उसे उत्तीर्ण करके ही दूसरी कक्षा का अधिकारी बनता है। न कि एम.ए. आचार्य आदि का। हाँ शनै: शनै: पढ़ता-पढ़ता पहली दूसरी-तीसरी आदि कक्षाओं को क्रमश: उत्तीर्ण करता हुआ शनै: शनै: वह एम.ए. व आचार्य पद तक पहुंच ही जायेगा और कुछ समय के बाद क्रमश: अध्ययन करता हुआ वह उच्च कोटि का विद्वान कहलाने लगेगा। इसी प्रकार से योग विद्या का विद्यार्थी भी शनै: शनै: क्रमश: अध्ययन करता हुआ अपने परम लक्ष्य तक अवश्य ही पहुंच जावेगा। किन्तु यह देखना आवश्यक होगा कि कौन व्यक्ति किस भूमिका का है। हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग एवं लययोगे किस रास्ते पर चलने से किसका जल्दी से जल्दी ऊँचा उत्थान हो सकता है, इस बात को उसके शिक्षक समझेंगे कि वह अपने छात्र को जिस मार्ग से चलाना चाहेंगे, चलायेंगे एवं उसको बढ़ावेंगे। यह विद्या सभी को सामान्य रूप से प्राप्त करने योग्य है। योग विद्या ही एक इस प्रकार की विद्या है जिसको जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है। इसको पाकर ही मनुष्य कृतकृत्य हो जाया करता है। यह विद्या हमारे पूर्वजों की अमर देन है।

योग में गुरु का स्थान

विशेष लेख :– श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

'सिद्धयोग' के पिछले अङ्क में प्रकाशित अपने विशेष लेख में हमने 'सार्व भौम विद्या योग' शीर्षक से कुछ विचार प्रस्तुत किये थे। यह ठीक है कि भूमण्डल पर जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी बिना किसी वर्ग जाति और स्थान भेद के इस विद्या को ग्रहण करने का अधिकारी है। लेकिन अधिकारी शब्द का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति समझ नहीं पाता।

प्राय: प्रत्येक व्यक्ति की अभिलाषा रहती है कि वह जिस विद्या अथवा विषय को ग्रहण करना चाहता है उसमें उसका प्रवेश शीघ्राति शीघ्र हो जाये और शीघ्रातिशीघ्र ही वह उस विद्या का पारंगत विद्वान कहलाने लगे तथा वह औरों को शिक्षा देने वाला आचार्य भी बन जाये। योग मार्ग में प्रवेश पाने वालों में यह अधिकार–भावना विशेषतया पाई जाती है। थोड़ी सी साधना के पश्चात् ही बहुधा योग मार्ग के साधक अपने को योग का आचार्य समझने की भूलकर बैठते हैं इसका परिणाम यह होता है कि वे न तो स्वयं मार्ग दर्शक बन पाते हैं और न दूसरों को ही किसी प्रकार का मार्ग दर्शन देने की क्षमता प्राप्त कर पाते हैं। कौन विद्यार्थी किस कक्षा में प्रवेश पाने का अधिकार रखता है इसे वह सुयोग्य प्रिंसिपल या आचार्य ही जान पाता है जिसने शतश: सहस्त्राधिक छात्रों को अपनी छत्र–छाया में रखकर सर्वशास्त्र निष्णात् एवं सामर्थ्यवान बना दिया हो। जो आचार्य अपने विद्यार्थियों के बला–बल को देखकर उन्हें शिक्षा देता है, वास्तव में वही सच्चा और सुयोग्य आचार्य कहा जाता है। और ऐसे ही अनुभवी आचार्य अपनी सदशिक्षाओं और मार्ग दर्शन से सुयोग्य विद्यार्थियों को उनके लक्ष्य तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त कर पाते हैं। और ऐसे ही आचार्य को हम अधिकारी आचार्य या अधिकारी गुरु कहकर पुकार सकते हैं। हमारे शास्त्र कहते हैं कि—

आचार्य्यवान् हि पुरुषो वेद:

अर्थात् परमात्मा को वही जान पाता है जो आचार्यवान या गुरु वाला हो। योगमार्ग परमात्म–तत्व को साक्षात् कराने वाला मार्ग है अत: इसमें आचार्य या गुरु के मार्ग दर्शन की अनिवार्यत: आवश्यकता रहती है।

आजकल लोक प्रवाह के प्रचार में बहुत स्थानों पर इस प्रकार की चर्चा होती देखी गई है जो लोग ईश्वर को मानते हैं एवम् ईश्वर के भक्त हैं उनको गुरु की क्या आवश्यकता। यदि इनकी बात को सत्य मान लिया जाये तो '**आचार्यवान ही पुरुषो वेद:**' की उक्ति व्यर्थ हो जाती है। जाना जाने वाला पुरुष और तत्व है और जनाने वाला गुरु और तत्व है। यद्यपि आत्म तत्वेन दोनों एक ही हैं किन्तु फिर भी जानने योग्य और जनाने वाला इन दोनों क्रियाओं से दोनों तत्व भिन्न–भिन्न दिखलाई देते हैं। इस लिए '**आचार्यवान् हि पुरुषों वेद:**' इस श्रृति सिद्धान्त को सामने रखते हुए परमार्थ गामी पुरुषान्वेषण में तत्पर रहने वाले साधक को आचार्य वाला बनना बहुत ही आवश्यक हो जाता है। वह आचार्य ही गुरु कहलाता है। पद्म पुराणर्न्तगत गुरु गीता में ऋषियों की सभा में श्री सूत जी ने गुरु का स्वरूप समझाते हुए अपने मुखारविन्द से स्वयं कहा है:

गु शब्द स्तधंकारोस्ति।
रु शब्दस्तन्निरोधक:।।
अंधकार त्रिरोधित्वाद,
गुरुरिप्तादि धार्यते।।

अर्थात् गु कार शब्द का प्रयोग अंधकार के लिए किया गया है, गु नाम अंधकार का है और रू नाम प्रकाश का है। गुरुदेव अंधकार का नाश करने वाले होने से गुरु कहलाते हैं।

गुरुदेव के स्वरूप में अंधकार निवारण की शक्ति होती है। इसलिए ही वे गुरु कहलाते है। जिस स्थान में गुरु का निवास हो जाता है। वहां से अंधकार बिल्कुल दूर हो जाता है और शुद्ध तेज का प्रकाश हो जाता है। यही कारण है कि योगी पुरुषों के सिद्ध स्थलों पर अन्धकार पूर्ण मद जीवों का वास रहता ही नहीं। छोटे-छोटे अंधकारी जीव ऐसे स्थानों पर जा ही नहीं सकते जहां पर सर्व शक्तिसम्पन्न योगिराजों का निवास रहा है। यही कारण है कि हमें अपने इतिहास में इस प्रकार के कथन मिलते हैं कि—

यस्मिन देशे वसेत योगी।
ध्यान योग विचक्षणः।।
सोपि देशो भवेत पूतः।
किं पुनस्तस्य बांधवः।।

अर्थात् जिस स्थान पर एक ध्यानयोगी वास करता है वह देश का देश पवित्र हो जाता है। इसके अतिरिक्त उसके भाई-बन्धों का तो कहना ही क्या

योग मार्ग के साधकों को इस प्रकार के सामर्थ्यवान गुरु की प्रतिक्षण आवश्यकता रहती हैं। हमारे शास्त्रों में परमार्थ प्रदर्शन करने वाले गुरूजनों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी में वे हैं जो अपने अनुभूत ज्ञान को अपनी वाणी के द्वारा अपने जिज्ञासु साधकों को उपदेश देकर समझाते हैं और अपने बुद्धि कौशल से उदाहरण के साथ शास्त्रीय सिद्धान्तों को समझा देते हैं, एवम् साधक उनकी वाणी पर विश्वास करके उनकी आज्ञानुसार अपनी साधना को करता चला जाता है और निरन्तर अभ्यास के फलस्वरूप अपने उच्चतम लक्ष को प्राप्त कर लेता। उनके रास्ते में जहां-जहां छोटे-मोटे अन्तराय पैदा होते हैं, अनुभवी गुरु उन सभी का निवारण करते हैं और साधक को परमश्रेय का भागीदार बना डालते हैं। यदि कोई साधक ऐसे पथप्रदर्शक के बिना अपने आप ही कण्टका-कीर्ण बीहड़ मार्ग से निकल जाना चाहता है तो उसके भटक जाने में कोई भी शंका नहीं करनी चाहिए। इसलिए हमारे आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में स्थान स्थान पर यह स्पष्ट आदेश दिये हैं कि अमुक साधन एवं अमुक साधनाओं को अनुभवी गुरु की शरण में रह कर ही सीखें। अन्यथा असफलता और गिरावट का भय सदा बना ही रहेगा।

दूसरी श्रेणी में उन गुरूजनों का स्थान है जिनके मनोबल से जिज्ञासु के हृदय में स्वतः ही शुद्ध ज्ञान का उदय हो जाता हैं। साधक को इसका पता ही न हो कि उसके अन्दर यह अतुलित बुद्धि विकास कब कहां से और कैसे पैदा हो गया। भाग्यवान् जीव ऐसे महापुरुषों का संग प्राप्त कर पाते हैं। इसलिए योग मार्ग में पग पग पर पथप्रदर्शक अनुभवी गुरु की आवश्यकता बनी रहती है। इसके अतिरिक्त यदि भाग्यवान साधकों को आत्मबल समन्वित पूर्ण सिद्ध शक्तिवान गुरु मिल जायें तो फिर कहना ही क्या? 'सोने पर सुहागे' की उक्ति चरितार्थ हो जाती है।

वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु

गुरु शिष्य को एक विशेष शक्ति प्रदान करते हैं, जो शिष्य की बहिर्मुखी वृत्ति को अन्तर्मुखी कर देती है, जब तक उसे ऐसी अनुभूति न हो तब तक गुरु अनुग्रह का कोई मूल्य नहीं।

जब श्री सतगुरु अनुग्रह कर शिष्य को अपनी शरण में ग्रहण करते हैं तो उनके द्वारा जिस दिव्य अलौकिक शक्ति का शिष्य के अन्दर जागरण होता हैं उसके आगे संसार के सब योग्य पदार्थ तुच्छ दिखने लगते हैं। जन्म-जन्म के संचित कर्मों का भण्डार जो जन्म मरण का कारण बना हुआ है जलकर भस्म होने लगता है। इसीलिए तो सन्तों ने लोगों को गुरु-चरणों में जाने का उपदेश दिया है।

गुरु तत्व और ईश्वर तत्व एक ही हैं जो इनमें दो की भावना करें उसे अन्धा कहना क्या अनुचित है।

गुरु तत्व ज्ञान का तत्व है जब साधक उन्नत होकर सर्वत्र गुरु तत्व को व्याप्त हुआ देखता है तो उसमें समताभाव का उदय होता है।

—श्रुतिसार

योगी को भुवन ज्ञान

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

'सिद्धयोग' के गत वर्ष के कतिपय अंकों में हमने 'योग-दर्शन' के विभूतिपाद में वर्णित विभूतियों के स्पष्टीकरण के लिये कुछ लेख प्रकाशित किये थे। आशा है पाठक समुदाय उन लेखों को पढ़कर अपने आपको योग-मार्ग में चलाने के लिये प्रयत्नशील हुआ होगा। 'सिद्धयोग' के विशेषांक से पहले प्रकाशित मार्च के अंक में प्रवृत्या लोकन्यास से, सूक्ष्म से सूक्ष्म छुपे हुए और दूर की वस्तुओं के ज्ञान को शीघ्रता से साधक प्राप्त कैसे कर लेता है, इस पर प्रकाश डाला था इससे आगे के सूत्र में भगवान् पतञ्जलिदेव ने उससे भी अधिक हितकर 'भुवन ज्ञान' का उपदेश किया है। हमारे कुछ लेखों को पढ़ करके पाठक समुदाय यह भी भली प्रकार समझ गया होगा कि योगी को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये संयम के बल की आवश्यकता रहती है। और संयम समाधि के दृढ़तर अभ्यास से ही सिद्ध होता है।

समाधि की उत्कृष्ट स्थिति को ही संयम कहा जा सकता है। संयम की परिभाषा लिखते हुए श्री पतञ्जलिदेव ने ''**त्रयमेकत्र संयमः**'' कहकर के संयम की परिभाषा को समझाया है। अर्थात् योगी का मन धारणा, ध्यान, समाधि तीनों में एक विषयक रहे अर्थात् व्यवधान रहित रहे तब योगी की लगाई हुई समाधि ही संयम का रूप धारण कर लेती है एवं उस योगी का मन इतना संयमित बन जाता है कि जब जहां वह अपने मन को लगाना चाहेगा लगा देगा और तब वह उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान लेगा। सूक्ष्म व्यवहित एवं **विप्रकृष्ट**' ज्ञान के बाद भगवान पतञ्जलि देव '**भुवन ज्ञान**' का उपदेश करते हैं।

श्री पतञ्जलिजी ने लिखा है ''**भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात**'' अर्थात् सूर्य संयम करने से योगी को अनायास ही सारे भुवनों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। देखना चक्षु का विषय है। मनुष्य की आंखों में रोशनी होती है तो वह सब कुछ देख ही सकता है। जिसकी आँखों में रोशनी ही न हो तो वह देखेगा ही क्या। योगी को दूर दर्शन, दूर स्पर्शन आदि की शक्ति तप के द्वारा उपलब्ध हो जाया करती है किन्तु दूर दर्शन, दूर स्पर्शन भी तभी हो सकता है जब कि योगी के अन्दर दृग्शक्ति एवं दर्शन-शक्ति बनी हुई हो। स्पर्शन शक्ति के मौजूद रहने पर ही योगी दिव्य देव लोकों तक का स्पर्श कर सकता है। यदि यह शक्ति योगी के अन्दर नहीं है तो वह शक्ति का विकास नहीं कर सकता। बीज से ही वृक्ष बनता है। योगी अपनी आंखों से थोड़ी दूर तक के विषयों को देख सकता है किन्तु यदि उनकी आंखों पर दूरबीन का चश्मा चढ़ा दिया जाये तो वह कई कई मील की दूरी तक देख सकता है। सूर्य अग्नि तत्व का केन्द्र है योगी जिस समय अपनी दृग शक्ति को अर्थात् अपनी आंख की शक्ति को सूर्य के तेज से मिला देगा तो भुवन मात्र के सभी दृश्यों को भली प्रकार से देख लेगा, क्योंकि योगी की आंख की शक्ति अब परिमित नहीं रही। वह एक अपरिमित शक्ति के अन्दर मिलकर के अपरिमित हो गई है। अत: भुवन मात्र में जहां-जहां सूर्य की रश्मियाँ पहुँचेंगी वहां-वहां के ज्ञान को योगी अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। अब रही बात यह कि हर व्यक्ति संयम के अर्थ को भली प्रकार से समझता भी है या नहीं। सूर्य में संयम करने से भुवन ज्ञान प्राप्त तो अवश्य ही हो जाता है यदि योगी को सूर्य में संयम करने की विधि का ज्ञान यथार्थ में हो। कितने ही लोग तो संयम के अर्थ को रोकना मात्र ही समझते हैं और किसी से बिना पूछे बिना सोचे समझे देदीप्यमान सूर्य मण्डल के अन्दर त्राटक की विधि से देखना आरम्भ कर देते हैं और थोड़े ही दिनों में परिणाम दुष्परिणाम के रूप में सामने आ जाता है और वह नेत्र शक्ति से खाली हो बैठते हैं। बीज से वृक्ष को बनाया जा सकता है किन्तु यदि बीज को पहले की आग में भून दिया जाये तो वृक्ष तो बनना दूर रहा वह बीज ही नष्ट हो जायेगा। पिछले दिनों चण्डीगढ़ में

जिस समय हिन्दी आन्दोलन शुरू हुआ उस आन्दोलन में एक व्यक्ति ने विधान भवन के सामने बैठ करके सूर्य को त्राटक विधि से देखना आरम्भ कर दिया। जब कोई पूछता क्या कर रहे हो तो वह कहता कि मैं सूर्य में संयम करके सारे भुवन को एक साथ देखने की ताकत पैदा कर रहा हूँ किन्तु तीन दिन के अन्दर ही उसकी साधना का दुष्परिणाम सामने आ गया और वह मनुष्य नेत्र ही ज्योति से रहित हो गया। वस्तुत: संयम इस वस्तु का नाम नहीं। योगियों का सूर्य नाभिमण्डल में वास करता है। योग विधि से उसी सूर्य में संयम करने से योगी को भुवन ज्ञान का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार कायाव्यूह में संयम करने से योगी को कायाव्यूह का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी ने बहुत बड़ा भाष्य लिखा हैं जिसमें बहुत से लोकों का वर्णन किया है। जिस समय योगी सूर्य में संयम करता है तो भुवन ज्ञान के साथ उन सभी लोकों को देख डालता है। श्री व्यास देव जी का लिखा हुआ भाष्य पाठाकों के हितार्थ ज्यों का त्यों यहां उद्धृत कर उसके अर्थ को संक्षेपत: नीचे लिख रहे हैं। जिसको पढ़कर साधक यह समझ सकेंगे कि सूर्य में संयम करने से भुवन ज्ञान की कितनी बड़ी शक्ति योगी को प्राप्त हो जाया करती है।

व्यास भाष्य-

तत्प्रस्तार:- सप्तलोका:, तत्रावीचे: प्रभूति मेरुपृष्ठं यावदित्येष भूर्लोक:, मेरुपृष्ठादारभ्या ध्रुवाद् ग्रहनक्षत्र तारा विचित्रोऽन्तरिक्ष लोक:, तत्पर: स्वर्लोक: पञ्चविधो माहेन्द्रस्तृतीर्यो लोक:, चतुर्थ: प्राजापत्यो महर्लोक:, त्रिविधो ब्राह्म:, तद्यथा-जन लोकस्तपोलो: सत्यलोक इति,

ब्राह्मस्त्रि भूमि को लोक:,
प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो,
दिवि तारा भुवि प्रजा।।
इति।।

संग्रहश्लोक! तत्रावीचे रुपर्य्युपरि निविष्टा: षरामहा-नरकभूमयोधन सलिलानलानिला काशतम: प्रतिष्ठा महाकालाम्बरीष रौरव महारौरव काल सूत्रा-न्धतामिस्रा, यत्र स्वकर्मोपार्जित दु:ख वेदना: प्राणिन: कष्ट मायु र्दीघमाक्षिप्य जायन्ते, ततो महातल रसातलातल सुतल बितल तलातल पातालाख्यानि सप्त पातालानि, भूमिरियमष्टमी सप्तद्वीपा वसुमती, यस्या सुमेरुर्मध्ये पर्वत राज: काञ्चन: तस्य राजत वैदूर्य-स्फटिकहेममणिमयानि श्रृङ्गाणि, तत्र वैदूर्य प्र भाऽनु-रागात्नी लोत्पल पत्र श्यामो नभसो दक्षिणों भाग: श्वेत: पूर्व: स्वच्छ: पश्चिम: कुरुण्ड काम उत्तर:, दक्षिण पार्श्वे चास्य जम्बू, यतोऽयं जम्बूद्वीप: तस्य सूर्य प्रचाराद रात्रिन्दिवं लग्नमिव विवत्तेत, तस्य नील श्वेत श्रृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रय: पर्वता द्विसहस्रायामा: तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजन साहस्त्राणि रमणकंहिरण्यम-यमुत्तरा: कुरव इति, निषध हेम कूट हिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्त्रायामा:, तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनव योजन साहस्त्राणि-हरिवर्ष किम्पुरुषं भारतमिति, सुमेरो-प्राचीना भद्राश्वा माल्यवत्सीमान: प्रतीचीना केतुमाला गन्धमादन सीमान: मध्ये वर्ष मिलावृतम् तदेतद् योजन शतसहस्रं सुमेरोर्दिशिदिशि तदर्धेन व्यूढम, स खल्वयं शतसहस्रायामो जम्बूद्वी-पस्ततो द्विगुणेन लवणो दधिन: बलया कृतित वेष्टित तपश्च द्विगुणा द्विगुणा: शाक-कुशकौञ्च शाल्मल मगधपुष्कर द्वीपा: सप्त समुद्राश्च सर्ष पराशिकल्पा सविचित्र शैला वतंसा इक्षुर ससुरासपिर्दधिमण्डक्षीर स्वादूदका सप्त समुद्र वेष्टिता बलचाकृतयो लोका लोक पर्वत परिवारा: पञ्चाशद्यो-जन कोटिपरि-संङ्ख्यात:, तदेतत्सर्वं सुप्रतिष्ठित संस्थान मण्डमध्ये व्यूढ़म्, अण्डं च प्रधान् स्याणुरवयवो यथाऽऽकाशे खद्योत:, तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेषु देव निकाया असुर गंधर्वकिन्नरकिं पुरुषयक्षराक्षस भूत प्रेतपिशा-चापस्मारकाप्सरो ब्रह्मराक्षस कूष्माण्ड वि-नायका: प्रविवसन्ति सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मानो देव मनुष्या:।

सुमेरुरस्त्रि दशानामुद्यान भूमि, तत्र मिश्रवनं नन्दन चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि, सुधर्मा देवसभा, सुदर्शन पुरं, बैजयन्त: प्रासाद:, ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धा वायुविक्षेपनियमनो पलक्षित प्रचारा: सुमेरो रुपर्युपरि सन्निविष्टा दिवि विपरिवर्त्तन्ते, माहेन्द्र निवासिन: षट् देवनिकाया:, त्रिदशा, अग्निष्वात्ता, याम्यास्तुषिता अपरिनिर्मित वश वर्त्तिन: श्चेति। सर्व संकल्प सिद्धा अणिमाद्यैश्वर्य्योपपन्ना: कल्पायुपो बृन्दारका: काम भोगिन औपपादिक देहाउत्तमा-नुकूलाभिरप्सरोभि: कृतपरिचारा:। महति लोके प्रा-जापत्ये कृतपरिचारा:। महति लोके प्राजापत्ये पश्चविधो देवनिकाय: कुमुदा: ऋभव: प्रतर्दना अञ्जनाभा:, प्रचिताभा इति। एते महाभूतवशिनो ध्यानाहारा कंल्पसह-स्रायुषं प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवानिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अमरा इति। ते भूतेन्द्रियवशिनो द्विगुणद्विगुणोत्तरायुष:।

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवानिकाय आभस्वरा, महाभास्वरा, सत्तमहा भास्वरा इति,

ते भूतेन्द्रिय प्रकृतिवशिनो द्विगुण द्विगुणो-त्तरायुष: सर्वे ध्धाना हारा ऊध्वरितस उर्ध्वमप्रतिहत ज्ञाना अधर भूमिष्व नावृतज्ञान विषया:, तृतीये ब्रह्मण: सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया: चच्युत: शुद्ध निवास सत्याभा: सञ्ज्ञा सञ्ज्ञिनश्चति अकृत भवनन्यासा: स्वप्रतिष्ठा उपर्य्युपरिस्थित प्रधानव-शिनो यावत्सर्गायुष: तत्राच्युता सवितर्क ध्यानसुखा:, शुद्धनिवास सविचार ध्यान सुखा: सत्याया आनन्द मात्र ध्यान सुखा, सञ्ज्ञा सञ्ज्ञिनश्चास्मिता मात्र ध्यानसुखा: तेऽपि त्रैलोक्य मध्ये प्रतितिष्ठन्ति, ए एते सप्तलोका सर्व एव ब्रह्मलोका:, विदेह प्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्त्तन्ते न लोक मध्ये न्यस्ता इति, एतद् योगिना साक्षात्कर्त्तव्यं सूर्य्यद्वारे संयमं कृत्वा, ततोऽन्यत्रापि, एवन्तावदभ्यसेद् यावदिदं सर्वं दृष्टमिति।

अर्थात्— भुवन का विस्तार सात लोकों का समूह है। उसमें अवीची से मेरुपृष्ठ तक भूलोक कहलाता है। मेरुपृष्ठ से ध्रुव पर्यन्त तक ग्रह नक्षत्र एवं तारागण से विचित्र अन्तिरक्ष लोक हैं। उससे आगे पाँच प्रकार स्वर्ग लोक हैं। उन पांच प्रकारों में प्रथम भूलोक से तृतीय तक महेन्द्रलोक है चतुर्थ प्राजापत्य महि लोक है। उसके बाद तीन प्रकार का ब्रह्मलोक है। उनके नीचे महर्लोक, माहेन्द्र स्वर लोक के नाम से कहा जाता है। उसके नीचे तारागणों से युक्त द्यू लोक एवं उसके नीचे भू लोक है। उनमें अवीची के ऊपर क्रमश: छ: नरक भूमियाँ बताई गई हैं। वे धन, सलिल, अनल, अनिल, आकाश तथा तय में ठहरी हुई हैं। उनके नाम क्रमश: महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र एवं अन्धतामिस्रय हैं जहां अपने कर्मानुसार जीवगण दु:ख भोगी महाकष्ट दीर्घायु लेकर भोगते हैं। उसके बाद महाकाल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल नामक सात पाताल है। सप्तद्वीप वाली यह पृथ्वी अष्टम है। काञ्चन पर्वत राज सुमेरु इसी के भीतर है। उसके राजत, वैदूर्य, स्फटिक एवं हेममणि युक्त श्रंङ्ग समूह हैं। उनमें से वैदूर्य प्रभा से रंजित होने के कारण आकाश का दक्षिण भाग नीलोत्पल के समान श्याम है। पूर्व भाग श्वेत तथा पश्चिम स्वच्छ है और उत्तर भाग स्वर्णाभ है। इसके दक्षिण कक्ष में जम्बू है उसी से इसका नाम जम्बू द्वीप कहलाता हैं। सुमेरु पर्वत के चारों ओर सूर्य के निरन्तर भ्रमण करने के कारण वहां दिन और रात निरन्तर लगे से दिखाई देते हैं अर्थात् सूर्य जिस तरफ बढ़ता हैं उस तरफ दिन और जिस तरफ से निकलता हुआ चला आता है उस तरफ रात दिखाई देती है। सुमेरु की उत्तर दिशा में दो हजार योजन विस्तार वाले नील, श्वेत तथा श्रङ्गवल नामक तीन पर्वत हैं उनके भीतर रमणक, हिरण्यक और उत्तर कुरु नामक तीन वर्ष है। उनका विस्तार नौ-नौ हजार योजन है। दक्षिण दिशा में दो हजार योजन विस्तार वाले निषिद हेम पूर्व तथा हिम शैल हैं। उनके अन्दर नौ-नौ हजार योजन विस्तार वाले हरिवर्ष किमपुरुषवर्ष तथा भारतवर्ष नाम के तीन वर्ष हैं। सुमेरू के पूर्व भाग में माल्यवान तक भद्राश्व तथा पश्चिम में गन्ध मादन तक केतुमाल हैं। उनमें इलावृत वर्ष है। जम्बू द्वीप का परिमाण सौ हजार योजन है।

वह सुमेरु के चारों ओर पचास हजार योजन तक फैला है। इस प्रकार से सौ हजार योजन जम्बू द्वीप और इससे दूने गोलाकार लवणोदधि से घिरा है इसके बाद क्रमश: शाक कुश, कौञ्च शाल्मल, मलज और पुष्कर द्वीप हैं इनमें से प्रत्येक ही पहले की अपेक्षा से दुगुना सप्त समुद्र सर्पो के घेर के समान विचित्र शैल मंडित है जिनके नाम लवण समुद्र के अतिरिक्त इक्षुरस सुरा घृत दधि मण्ड और दूध जैसे स्वादिष्ट पानी वाले हैं। पचास करोड़ योजन गोलाकार सप्त द्वीप लोक पर्यन्त समुद्र घिरे हैं। यह सब अण्ड के अन्दर हैं और ये अण्ड भी प्रधान प्रकृति का अणु अवयव हैं जैसे आकाश में खद्योत हुआ करता हैं। इस सब पाताल में जलधि में एवं इन सब पर्वतों में आसुर, गंधर्व, किन्नर किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मार अप्सरा ब्रह्मराक्षस, कुष्माण्ड तथा विनायक रूप देव योनियों के समूह बसते हैं तथा अन्य द्वीप समूह में पुण्यात्मा देवता एवं मनुष्यगण निवास करते हैं। सुमेरु देवताओं की उद्यान भूमि है वहां मिश्रवन, नन्दन वन, चैत्ररथ और सुमानस ये चार उद्यान सुधर्मा नामक देव सभा सुदर्शन पुर तथा बैजयन्त नामक महा प्रासाद है। ग्रह नक्षत्र एवं तारागणों के समूह ध्रू के साथ सम्बन्ध होकर घूमते रहते हैं। महेन्द्र लोक निवासी देवगण छ: प्रकार के हैं। उनमें त्रिदश अग्निष्पात याम्य तुषित अपरिनिर्मित वशवर्ती एवं परिनिर्मित वशवर्त्ती हैं। यह सभी लोग संकल्प सिद्धि अणिमादि ऐवर्श्य संम्पन्न कल्पायु पूज्य काम योगी औपपादिक देह धारी दिव्य अप्सरिसाओं से युक्त परिवार वाले हैं। राजापत्य महर्लोक में देव निकाय पांच प्रकार के हैं। कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अञ्जनाभ एवं प्रचिताभ ये सब महाभूत वशी ध्यान मात्र से ही तृप्त रहने वाले सहस्र कल्पायु हैं। जन नामक ब्रह्मा के प्रथम लोक में देव निकाय चार प्रकार के हैं। जिनमें से ब्रह्म पुरोहित, ब्रह्मकायिक ब्रह्ममहाकायिक और अमर हैं ये लोग भूतेन्द्रिय वशी एवं उत्तरोत्तर दुगनी आयु वाले हैं। ब्रह्म के द्वितीय तपो लोक में देवनिकाय तीन प्रकार के हैं जैसे आभास्वर महाभास्वर सत्य महाभावस्वर में लोग भूतेन्द्रिय तथा तन्मात्र वथी हैं तथा उत्तरोत्तर दुगनी आयु वाले ध्यानाहारी ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वत्स्व एवं सत्य लोक में ज्ञान की सामर्थ्य रखते हैं। ब्रह्मा के तृतीय सत्य लोक में देवनिकाय चार प्रकार के हैं। उच्चुत, शुद्धनिवास, सत्याभ सङज्ञासंज्ञिन ये लोग भवन शून्य स्वप्रतिष्ठ उत्तरोत्तर ऊपर रहने वाले और महाकल्पायु हैं। उनमें अच्चुत गण सवितर्क ध्यान सुख युक्त शुद्ध निवास गण सविचार ध्यान सुख युक्त सत्याभ गण आनन्द मात्र ध्यान सुख युक्त और संज्ञासंज्ञिन गण अस्मिता मात्र ध्यान सुख युक्त हैं ये सभी लोग त्रिलोक के अन्तर्गत हैं ये सभी ब्रह्मलोक विदेह लय गण व प्रकृति लय गण वाले मोक्ष पद में हैं। ये लोग लोक में संलग्न नहीं माने जाते। सूर्य द्वार में संयम करके योगी को इन सबका प्रत्यक्ष करना चाहिये इसके अतिरिक्त भी इससे ऊँचे से ऊँचा प्रत्यक्ष कर लेना चाहिये।

व्यास भाष्य पूरे-पूरे अर्थ सहित प्राय: ऊपर लिखा दिया गया है। यद्यपि आज कल भूगोल के अनुसार जम्बू द्वीप और सुमेरू पर्वत का जो विस्तार लिखा है उतना दिखलाई तो नहीं देता और न ही इक्षुरस आदि के समुद्रों का पूरा-पूरा ज्ञान हो पाता है किन्तु इसमें कोई शंका भी नहीं कि भूत जयी, महाभूत वशी, तन्यात्र वशी, ऊर्ध्वरितस आदि जिन महा योगियों का जिक्र किया है वे लोग अवश्य ही वितर्कानुगत समाधि सुख भागी विचारानुगत समाधि सुख भागी, आनन्दानुगत समाधि सुख मात्री एवं अस्मितावगुत समाधि भागी सुख भागी होने से महाकल्पात्त तक देहधारी एवं अजर अमर लोग हैं। भूत यमी-भूत वशी एवं तन्मात्र वशी योगी सभी कुछ करने की सामर्थ्य वाला होता हैं। इसलिये योगाभ्यास अभ्यासी साधक को चाहिये वह अभ्यास परायण होकर के सुषुम्ना का साक्षात्कार करके सुषुम्ना द्वार से ही सूर्य में संयम करना सीखे एवं पूर्णरूपेण भुवन ज्ञान को प्राप्त करें। जो भाव व्यास भाष्य में दिखला दिया है उससे भी अतिरिक्त परमात्मा की अनन्त सृष्टि को एवं ईश्वर के ऐश्वर्य को पूर्ण रूपेण देख डाले। जिससे वह कभी भी अपने अमर पद से विचलित न हो सके।

योगियों के विविध संयम एवं उनके विविध फल

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने अपने इस से पहले अंक में एक लेख प्रकाशित कराया था जिसका शीर्षक था 'योगियों को भुवन ज्ञान।' इसका विषय था सूर्य में संयम करने से सारे भुवनों का ज्ञान अनायास ही होने लगता है। पाठक भली प्रकार से यह समझ गये होंगे कि योगियों के संयम का लक्ष्य क्या है और उनको संयम किस प्रकार से करना चाहिये। संयम का लक्ष्य किसी दृश्य को एक टकटकी लगाकर देखना ही नहीं प्रत्युत उसको देखते-देखते अंतर्मुख होकर के उसमें समाधिस्थ होना ही है। गुरु नानक देव ने अपनी 'गुरु वाणी' में अपने मुखारविन्द से कहा है— **जो ब्रह्मण्डे सोई पिण्डे, जो खोजे सो पावे'** अर्थात् जो शक्ति ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में मौजूद है। किन्तु जो लोग छान-बीन करते हैं उनको ही यह मिला करती है। पिछले लेख में हमने बतलाया था कि सूर्य-संयम का अर्थ सुषुम्नागत सूर्य से है और उसका स्थान योगीजन नाभिमण्डल मानते हैं। वहाँ पर संयम करने पर ही योगी के चक्षु दिव्य प्रकाशमय बनकर सारे भुवन को देखने वाले हो जाते हैं। अब इसी प्रकार से आगे भी भगवान पतञ्जलिदेव विविध प्रकार के संयमों के भेद बतलाते हैं। उन-उन विषयों में संयम करने से योगी को विविध प्रकार के ज्ञान की अनुभूति होती रहती है। भगवान पतञ्जलिदेव तारा व्यूह के ज्ञान का प्रकार बतलाते हैं—

चन्द्र ताराव्यूहज्ञानम्।।

अर्थात् चन्द्र बिम्ब में संयम करने से योगी को ताराव्यूह का अपने आप ही ज्ञान हो जाता है। समाधि का प्रकार वही है जैसा कि हम पहले समझा चुके हैं। इस सूत्र पर व्यास भाष्य -

चन्द्रे संयमं कृत्वा ताराव्यूहं विजानीयाद्।

अर्थात् चन्द्रमा में संयम करके ताराव्यूह की रचना को योगिराज प्रत्यक्ष करें। इस संयम के संकल्प में योगी जब अपना यह संकल्प रखेगा कि मैं चन्द्र बिम्ब में सम्बन्धित ताराव्यूह को जानूं तो वह अवश्य ही जान जायेगा।

तारागण की गति का ज्ञान

ध्रुवे तद्गति ज्ञानम्।

व्यास भाष्य—

ततो ध्रुवे संयमं कृत्वा, ताराणां गतिं जातीयाद् ऊर्ध्व विमानेषु कृत संयमस्तानि विजानीयाद्।।

अर्थात् ध्रुव तारे में संयम करने से योगी सभी तारागण की गति को जान लेता है क्योंकि ध्रुव अटल है सुस्थिर है। गति रहित स्थिर वस्तु पर संयम करने से उसके आस पास के गतिमान तारागणों का ज्ञान तो हो ही सकता है। इसी प्रकार से जैसे ध्रुव में संयम करने से तारा-गण की गति का ज्ञान होता है, उसी प्रकार से तारागण के ऊर्ध्व विमान आदि में संयम करने से उसका ज्ञान भी योगी को स्वाभाविक ही है।

काया व्यूह का ज्ञान

शरीर भी एक अण्ड का रूप है। अनुभवी लोगों ने शरीर के अन्दर नदी, नाले, पहाड़, समुद्र आदि सभी को जाना है अत: मनुष्य के शरीर को भी एक व्यूह रचना का ही रूपक माना गया है। इस काया रूपी व्यूह का ज्ञान प्राप्त करने के लिए योगी को कहीं न कहीं संयम करने की आवश्यकता है ही। नाभि मण्डल एक ऐसा स्थान है। जहां शरीर भर की नाड़ी समूह का एक अधिष्ठान है अत: भगवान पतञ्जलिदेव ने निम्नांकित सूत्र में नाभिचक्र में संयम करने से कायाव्यूह के ज्ञान की सूचना इस प्रकार दी।

नाभिचक्रे कायव्यूह ज्ञानम्।।

व्यास भाष्य—

नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयाद् बात पित्तश्लेष्माण स्त्रयो दोषाः सन्ति धातवः सप्त त्वग्लौहितमांस स्नाय्यस्थिमज्जा शुक्राणि पूर्व पूर्वमिषां बाह्यमित्येष विन्यासः।

अर्थात् नाभिचक्र में संयम करने पर योगी को काया व्यूह का ज्ञान होता है। कायाव्यूह में वात पित्त कफ आदि तीन प्रकार के दोष हैं और सात धातुयें हैं इसमें त्वचा अर्थात् चमड़ी रक्त अर्थात् रुधिर, मांस-स्नायु अर्थात् नाड़ियें, हड्डी, मज्जा और शुक्र ये सब पहले बताये प्रकरण की अपेक्षा बाह्य रूप से माने गये हैं। जिस प्रकार से सूर्य द्वार में संयम करने से योगी को सारे भुवन का ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार से नाभि मण्डल में संयम करने से शरीर की सारी रचना का ज्ञान योगी को हो जाया करता है क्योंकि शरीर के आधारभूत वात पित्त कफ आदि दोष और सप्त धातुयें हैं। इनको पूर्णरूपेण जान लेने पर इनसे सम्बन्धित अन्य शरीर रचना को भी भली प्रकार से जाना जा सकता है। अब इससे आगे भगवान पतञ्जलिदेव एक विषय का वर्णन करते हैं और वह विषय है।

क्षुप्तिपासा निवृत्ति का उपाय

योगाभ्यासी योगी के रास्ते में जिस प्रकार अन्य व्याधिस्त्यान संशय प्रमादादि अन्तराय है उसी प्रकार से भूख और प्यास भी साधक के रास्ते में एक बहुत बड़ी अन्तराय है। साधक ज्यों-ज्यों अभ्यास में बैठेगा त्यों-त्यों उसको भूख और प्यास सताती रहेंगी। फलस्वरूप वह अपने अभ्यास को छोड़ बैठेगा और यह लोकोक्ति चरितार्थ हो जायेगी कि—

भूखे भगति न होय गोपाला,
यह लो अपनी कंठी माला।

इसी बात को मद्देनजर रखते हुए भगवान पतञ्जलिदेव जी ने क्षुप्तिपासा निवृत्ति का भी एक उपाय बतला दिया—

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः।

व्यास भाष्य—

जिह्वाया अधस्तात् तन्तुः ततोऽधस्तात् कण्ठः, ततोऽधस्तात् कूपः तत्र संयमात् क्षुप्तिपासे न बाधेते।

अर्थात्— कण्ठ कूप में संयम करने से योगी की भूख व प्यास मिट जाती है। जिह्वा के नीचे के भाग में तन्तु है तन्तु से नीचे कण्ठ है और कण्ठ के नीचे कण्ठकूप है। जब योगी कण्ठकूप में अपने मन को लगा करके संयमित चित्त होकर समाधिस्थ बैठता हैं तब उसका क्षुत्पिपासा जनित दुःख स्वतः ही शान्त हो जाता है और मन शान्त होकर सुस्थिरता की ओर जाने लगता है किन्तु स्थिरता का लाभ प्राप्त करने के लिये उसको एक विशेष प्रकार के संयम की आवश्यकता अनुभव में आने लगी उसी को बतलाने के लिए भगवान पतञ्जलिदेव ने कूर्म नाड़ी का संकेत किया—

कूर्मनाड्यां स्थैर्य्यम।

व्यास भाष्य—

कृपादध उरसि कूर्माकारा नाड़ी, तस्यां कृत संयमः स्थिर पदं लभते यथा सर्पोगोधावेति।

अर्थात् कण्ठ कूप के नीचे वक्षस्थल की तरफ कूर्म नाड़ी है। जब योगी उसमें संयम करता है तो उसके चित्त में स्वाभाविक स्थिरता आने लगती है। लोक में इस प्रकार के उदाहरण प्रसारित हैं। सर्प और गोधा दोनों इस प्रकार के जीव हैं कि यह दोनों ही पत्थर के मानिंद जड़वत् होकर पड़े रहा करते हैं। इसी प्रकार योगी भी यदि कूर्म नाड़ी में संयम करता है तो सर्प व गोधा की तरह ही स्थिरता को प्राप्त कर लेता है।

सिद्ध-दर्शन का उपाय

मूर्द्धा ज्योति में संयम करने से योगी को सिद्धों के दर्शन होने लगते हैं। सिर में कपाल भाग के नीचे एक छिद्र है उस छिद्र में बहुत ही देदीप्यमान भास्वरा ज्योति की स्थिति है। योगी अपने संयम के आधार पर यदि वहां मन को स्थिर करता है तो उसको पृथ्वी और आकाश के अन्तराल में विचरने वाले सिद्धों के दर्शन अपने आप ही होने लगते हैं। इस प्रकार के जो सिद्ध पुरुष हैं वे देव रूप माने जाते हैं।

सर्व ज्ञान का उपाय

संयम के आधार पर योगी सभी कुछ जान लेता है किन्तु फिर भी आत्म ज्ञान की ओर बढ़ते हुए योगी को प्रातिभ नाम के एक ज्ञान का उदय होता है। उस ज्ञान के उदय हो जाने

पर योगी सब कुछ जान लेने की ताकत वाला हो जाता है। भगवान पतञ्जलिदेव के शब्दों में पढ़िये–

प्रतिभाद्वा सर्वम्।

व्यास भाष्य—

प्रातिभ नाम तारकं तद्विवेकजस्य ज्ञानस्य पूर्व रूपं यथोदयं प्रभा भास्करस्य तेन सर्व मेव जानाति योगी प्रातिभस्य ज्ञानस्योत्पत्ताविति।

अर्थात् प्रातिभ नाम का एक ज्ञान है जिसको विवेक ज्ञान का पूर्व रूप कहना चाहिये। जैसे सूर्योदय से पहले सूर्य का धीमा–धीमा प्रकाश उषा काल में हो जाया करता है। जिसको हम लोग पौ फटना भी कहा करते हैं। इस पौ फटने पर जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य उस धुंधले प्रकाश में सभी कुछ देखने लग जाते हैं, उनको मकान वृक्ष नदी नाले सब नजर में आने लग जाते हैं इसी प्रकार विवेक ज्ञान से पूर्व इस प्रातिभ नाम के ज्ञान के उदय होने पर उस आत्म तेज के प्रभाव से सभी कुछ जानने लग जाता है। दूसरों के मन में यदि कोई भाव गुजरता है तो योगी तत्काल जान लेता है कि अमुक व्यक्ति अब यह सोच रहा है। अमुक स्थान पर इस समय अमुक कार्य हो रहा है।

योगी को चित्त का ज्ञान

हृदये चित्त संविद्

व्यास भाष्य—

यदिदमस्मिन ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्री विज्ञानं तस्मिन् संयमाच्चित्त संवित।

अर्थात् हृदय में एक कमल है वह परम् विज्ञान का घर है उसमें संयम करने से योगी को चित्त का ज्ञान हुआ करता है संयम सिद्ध योगी अपने संयमित चित्त को, मैं अमुक ज्ञान को प्राप्त करके ही रहूँगा इस भावना को दृढ़ करके जो भी कुछ जानना चाहता है वह तत्काल जान जाता है। चित्त की कोई आकृति नहीं किन्तु जब योगी जानना चाहता है कि मैं चित्त को जानूं और इसी भावना को लेकर वह समाधिस्थ हो जाता है तो उस सर्व व्यापक अन्तरयामी परम गुरु परमात्मा की कृपा से उसको शुभ प्रेरणा मिल जाती है एवं वह उस वस्तु तत्व को जान लेता है। योग में संयम योगियों की एक अनुपम निधि है। संयम प्राप्त करना ही कुछ कठिन है। एक योगी अपने अभ्यास के बल से जहां–जहां अपने संयमित चित्त को लगायेगा उसके ज्ञान विशेष को अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। अत: प्रत्येक पाठक को चाहिए योग की इस अमर विधि को प्राप्त करने के प्रयत्न में लग जाये। यह न समझे कि मैं इस गूढ़ विषय को कैसे जान सकूँगा, कैसे पा सकूंगा।

करत करत अभ्यास के,

जड़मति होत सुजान।

एक एक बूंद पानी के पड़ने से घड़ा पूरा भर जाया करता है। अत: जो उधमी लोग पूर्ण पुरुषार्थ के साथ इस अन्तरनिधि को प्राप्त करने के प्रयत्न में लग जायेंगे वे उसे ले लेंगे एवं अपने मनुष्य जीवन को सफल बना लेंगे।

योगी को आत्म-साक्षात्कार

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

संसार के उपासक सदा सर्वदा आत्म-साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील रहा करते हैं। आत्म-साक्षात्कार अर्थात् श्री पतञ्जलि जी की परिभाषा में साधक को पौरूषेय ज्ञान किस प्रकार से ज्ञात होता है यह बहुत ही गहन एवं विचारणीय विषय बन जाता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धांत है:

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

अर्थात् जो स्वयं ज्ञाता है अपने आपको अपने आप ही जानता है उसको किस साधन से जाना जाये। पुरुष को जानने का यदि प्रयत्न किया जाता है तो उसका अर्थ यह समझ लेना चाहिये कि ज्ञेय वस्तु कोई भिन्न है और जानने की इच्छा वाला कोई और है। जहां पर ज्ञाता और ज्ञेय एकत्व में भाषित हो रहे हैं वहां पर जानने योग्य कौन है और किस साधन से उसको जाना जाये भगवान पतञ्जलि देव उस विषय को समझा कर पुरुष ज्ञान का प्रकार लिखते हैं। अभ्यास करने वाले साधक को ज्ञाता और ज्ञेय के अर्थ को अपनी बुद्धि के सामने रख लेना चाहिये। जो साधक ज्ञाता और ज्ञेय के ज्ञान को भली प्रकार से समझ कर विशुद्ध बुद्धि सत्त्व को संयम की ओर लगाने की चेष्टा करेंगे वही पौरुषेय ज्ञान की ओर अग्रसर हो सकते हैं। पढ़िये श्री पतञ्जलि जी के शब्दों में पुरुष ज्ञान का प्रकार :-

सत्त्व पुरुषोयारत्यन्ता सङ्कीर्णयो: प्रत्यया-विशेषोभोग: परार्थत्वात् स्वार्थ संयमात् पुरुषज्ञानम्।

अर्थात् बुद्धि और आत्मा ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं किन्तु इनका एकत्व बोध ही भोग कहलाता है। बौद्धेय ज्ञान को छोड़कर पुरुष ज्ञान रूप सत्त्व में संयम करने से योगी को आत्म-साक्षात्कार हुआ करता है इन्हीं भावों का स्पष्टीकरण करते हुए श्री व्यासदेव जी महाराज अपने भाष्य में जो पंक्तियाँ लिखते हैं उनको पढ़िये:-

बुद्धि सत्त्वं प्रख्याशील समान सत्त्वो पनि-बन्धने रजस्तमसी वशीकृत्य सत्त्वपुरुषान्यता प्रत्ययेन परि-णितम्। तस्माच्चसत्त्वात्परिणामिनो-ऽत्यन्तविर्ध्या विशुद्धोऽन्यश्चिति मात्र रूप: पुरुष:। तयोररत्पन्ता संकीर्णयो: प्रत्यया विशेषो भोग: पुरुषस्य दर्शित विषयत्वात्। स भोग प्रत्यय: सत्त्वस्य परार्थत्वाद दृश्य:।

यस्तु तस्माद्विशिष्टश्चिति मात्र रूपोऽन्य: पौरुषेय: प्रत्ययस्तत्र संयमात्पुरुष विषया प्रज्ञा जायते। न च पुरुष-प्रत्ययेन बुद्धि सत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते पुरुष एव तं स्वात्मावलम्बनं पश्यति। तथा ह्युक्तम् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'' इति।।

अर्थात् रज तम से रहित विवेक ज्ञान पूर्ण प्रकाशित बुद्धि सत्त्व और चिति स्वरूप पुरुष का ज्ञान इन दोनों का ज्ञान भिन्न-भिन्न होने पर भी अभेद सा दिखता रहता है क्योंकि पुरुष बुद्धि का प्रति संवेदी है। प्रति संवेद रूप ज्ञान को खत्म करके प्रख्या रूप बुद्धि सत्त्व को पुरुष जब अपनी चेतना का अधिष्ठान बनाता है तभी वह स्वार्थ संयम करता है। स्वार्थ संयम से आत्म साक्षात्कार की अनुभूति होती है।

इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिये। साधन पाद के तीसरे सूत्र में दृष्टा जीवात्मा का लक्षण इस प्रकार लिखा है:

द्रष्ट दृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य:।

अर्थात् दृष्टा जीवात्मा दृक्शक्ति मात्र शुद्ध है इतना होने पर भी बुद्धे: प्रति संवेदी होने के नाते वह प्रत्ययानुपश्य है। बौद्धेयज्ञान को देखता है इसलिये तब तक पूर्ण शुद्ध नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह बौद्धेय बोध से दूर न हो जाय।

यही योग दर्शनकार भगवान पतञ्जलिदेव का लक्ष्य है। उन्होंने कैवल्य मुक्ति का स्वरूप प्रकृति और पुरुष के शुद्धि साम्य को बतलाया है। शुद्धि साम्य का अर्थ है जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाये और गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाये तभी दृक्शक्ति अपरिणामिनी, अप्रति संक्रमा केवली भाव को प्राप्त हुई दिखाई दे सकती है। बुद्धि बोध से आक्रान्त आत्मा ही प्रत्ययानुपश्य दिखलाई देती है। इसीलिये भगवान पतञ्जलिदेव ने **''दृष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः''** कह करके आत्मा के शुद्ध होने पर भी बुद्धेः प्रति संवेदित्व कह करके आत्मा की केवली भाव से पूर्व की स्थिति का रूपक समझा दिया। देखिये इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियें :-

दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणा-परामृष्टेत्यर्थः, स पुरुषो बुद्धेः प्रति संवेदी स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति, न तावत्सरूपः कस्माद्? ज्ञाता-ज्ञात विषयत्वात्, परिणामिनी हि बुद्धिः, तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति, सदाज्ञात विषयत्वन्तु पुरुषस्या-परिणामित्वं परिदीपयति, कस्माद्? न हि बुद्धिश्च नाम पुरुष विषयश्च स्याद् गृहीतऽगृहीता चेति सिद्ध पुरुषस्य सदा ज्ञातं-विषयत्वम्। ततश्चापरिणामित्वमिति, किञ्च परार्था बुद्धिः संहत्य कारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्, त्रिगुणा बुद्धिः त्रिगुणात्वादचेतनेति, गुणानां तूपदृष्टा पुरुष इति, अतो न सरूपः अस्तु तर्हि विरूप इति, नात्यन्तं विरुपः, कस्मात्? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्यानुपश्यो, यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तमनुपश्यन्न-तदात्माऽपि तदात्मक इव प्रत्यवभासते, तथा चोक्तम् 'अपरिणामिनी हि भोक्तृ-शक्तिर प्रति संक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रति-संक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचेतन्यो पग्रहरूपाया बुद्धि वृत्तेरनुकार मात्रतया बुद्धि वृत्त्याविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्या-ख्यायते।

अर्थात् आत्मा किसी विशेष ज्ञान से अपरामिष्ट शुद्ध है किन्तु बुद्धेः प्रतिसंवेदी होने के कारण जो बुद्धि के अत्यन्त सरूप और न ही अत्यन्त विरूप ही है क्योंकि बुद्धि ज्ञाताज्ञात विषया परिणामिनी है क्योंकि उसका गंवादि एवं घटादि का ज्ञान ज्ञाता ज्ञातविषयत्व एवं परिणामित्व दिखलाता है और पुरुष सदाज्ञाता होने के नाते से उसका अपरिणामित्व प्रकट होता है और बुद्धि हमेशा पुरुष विषयक न रहने से गृहित गृहिता है इसलिये पुरुष का सदाज्ञात विषयत्व सिद्ध हो गया और अपरिणामित्व भी सिद्ध हो गया। बुद्धि हमेशा परार्था है, त्रिगुणात्मिका है। क्योंकि बुद्धि पुरुष के साथ मिलकर ही काम कर सकती है इसलिए वह परार्था कहलाती है। अर्थात् बुद्धि जीवात्मा का अपना स्वार्थ है। इसलिए सभी अर्थों का निश्चय करना बुद्धि का धर्म है। अतः वह त्रिगुणात्मिका है। त्रिगुणात्मिका होने के नाते वह जड़ है। और पुरुष गुणों का ज्ञाता होने के कारण बुद्धि में सरूप नहीं है। अब प्रश्न यह पैदा होता है क्या पुरुष बुद्धि के विरुद्ध एवं विरूप है। इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि अत्यन्त विरूप भी नहीं क्योंकि:

''शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्य''

अर्थात् जीवात्मा परम शुद्ध होने पर भी बौद्धेय ज्ञान को देखती है। इस लिए बुद्धि वृत्तियों को देखती हुआ आत्मा भी बुद्धि वृत्तियों के अनुरूप ही होती है। इसीलिए यह कहा गया है:

अपरिणामिनीहिमोतृ शक्ति अप्रति-संकृमाच्च।

अर्थात् भोगने वाली शक्ति सदा अपरिणामिनी दृश्य के रूप में बदलने वाली नहीं है। परिणाम के रूप में जब बुद्धि, वृत्ति पदार्थ के आकार वाली बनती है वह इसका परिणाम है किन्तु आत्मा के अन्दर ऐसा कोई परिणाम नहीं है वह नित्य चेतन शुद्ध स्वरूप केवल मात्र दृष्टा है। इस विषय को एक उदाहरण के साथ समझ लेना चाहिए। आत्मा और बुद्धि के रूप को इस प्रकार समझा जा सकता है। जैसे एक सुन्दर साफ शीशा सामने रखा जाये और उसके अन्दर लाल-पीले-हरे पुष्पों के बिम्ब डाले जाये तो वह शीशा विकारी होता जब तक फूल सामने हैं। तब तक वह विकारी दिखाई देता है। यदि फूल सामने से हटा दिये जाये तो शीशे के अन्दर न कोई

विकार रहता, न वे फूल ही दिखाई देते हैं। इसी प्रकार से आत्मा एक निर्मल ज्योति है। नित्य चेतन शुद्ध शक्ति है। उसके प्रकाश को पाकर जड़ बुद्धि चेतन हो उठी। आत्मा ने बुद्धि का यह उपकार किया है कि बुद्धि को चेतनता दे दी। चेतन हुई उस बुद्धि ने आत्मा का प्रत्युपकार किया उस प्रत्युपकार में बुद्धि ने अपना गुणात्मिका रूप आत्मा को दिखला दिया जिससे आत्मा को बौद्धेय ज्ञान सुख दु:खादि की अनुभूति होने लगी यही हृदय ग्रन्थि कहलाती है। अर्थात् जड़ चेतन की गांठ कहलाती है। अत: आत्मा बुद्धि के न सरूप है न अत्यन्त विरूप है। आत्मा शुद्ध होने पर शुद्ध होने के नाते बुद्धि के बिल्कुल विरूप है। किन्तु बुद्धे: प्रति संवेदी होने के नाते से बुद्धि के लिए सरूप सा भासित होता है। इसलिए भगवान पतंजलि देव ने पुरुष ज्ञान के लिए स्वार्थ संयम का उपदेश दिया। सूत्र ऊपर लिख चुके हैं। फिर पढ़ लीजिए:

सत्त्व पुरुषयोरत्यन्तासंकीणयो: प्रत्ययोविशेषो भोग: परार्थत्वात् स्वार्थ संयमात् पुरुषज्ञानम्।

अर्थात् प्रकृति और पुरुष अत्यन्त भिन्न हैं इनका प्रत्यय विशेष ही भोग है। परार्थ होने के नाते से जिस समय अभ्यासी स्वार्थ संयम करता है तो बुद्धि के जितने पदार्थ भोग हैं वे सब खत्म हो जाते हैं। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। अभी हमारी बुद्धि वृत्ति परिणामिनी होने के कारण विविध प्रकार के घट पटादि के ज्ञानों को अपने अन्दर धारण करती रहती है और उसके वे ज्ञान घट के बाद पट, पट के बाद घट क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं। गुणात्मिका होने के कारण तम की प्रधानता में जड़त्व और रज की प्रधानता में चलत्व आदि के परिणाम होते रहते हैं। बुद्धि में स्थिरता केवल मात्र सतोगुण के ही प्रभाव से आ पाती है। सतोगुण आत्मा के निकट का आवरण है। ज्यों-ज्यों साधक रजोगुण तमोगुण की खाइयों को पार करके सतोगुण के निकट पहुँचता है त्यों-त्यों उसमें आत्मिक तेज आभासित होने लगता है। बुद्धि स्थिरता को प्राप्त होती है। मन में शान्ति झलकने लगती है। ज्यों-ज्यों साधक समाधि योग का अभ्यास करता है। त्यों-त्यों संप्रज्ञात समाधि की वितर्कानुगत-विचारानुगत एवं आनन्दानुगत तीन श्रेणियों को पार कर पाता है बाद में वह स्वत: ही उस परम गुरु परमात्मा की कृपा से अस्मितानुगत योग में प्रवेश कर जाता है

अस्मितानुगत में प्रवेश कर जाने के बाद उसको स्वत: ही ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रगट हो जाती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का अर्थ ही है कि ऋतं-सत्यं-विभति या सा ऋतंभरा यह बुद्धि इस प्रकार की होती है जिसमें सत्य ही सत्य भासित होता है। इस बुद्धि के पैदा हो जाने पर परार्थ नग्न नृत्य करने वाली सभी बुद्धि वृत्तियाँ अपना कार्य समाप्त करके स्वयं भी खत्म हो जाया करती हैं। ऋतंभरा प्रज्ञा को प्राप्त हुआ साधक संप्रज्ञात समाधि के अन्तिम परिणाम स्वरूप अस्मि प्रत्यय को प्राप्त होता है। इस अस्मि प्रत्यय को ही निर्वाणोन्मुखी वृत्ति कहते हैं। यही वृत्ति (आत्म साक्षात्कार) के निकट की वृत्ति है। पुरुष के अपने तेज से ये बुद्धि वृत्ति चमकती है। साधक अनुभव करता है। अस्मि-अस्मि अहमेवास्मि अर्थात् यह सब कुछ मैं ही हूँ। ऐसी बुद्धि वृत्ति के पैदा हो जाने पर जब योगी संयम करता है उसी संयम को स्वार्थ संयम कहते हैं। भगवान पतंजलिदेव के उपरोक्त सूत्र में स्वार्थ संयमात् पुरुषज्ञानम् का अर्थ यही है जितने अभी तक संयम किये थे, वह सबके सब परार्थ ज्ञान के संयम थे, किन्तु अस्मि प्रत्यय के साथ यह संयम स्वार्थ संयम कहलाता है। इस संयम को दृढ़ता के साथ करता हुआ योगी पूर्ण रूपेण आत्म साक्षात्कार कर लेता है। स्वार्थ संयम ही आत्म साक्षात्कार का प्रमुख साधन है।

योगी को प्रातिम श्रावण आदि का ज्ञान

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने अपने पूर्व लेखों में 'योगी को आत्म साक्षात्कार कैसे होता है। इस विषय को भली प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है। योगी ज्यों-ज्यों अपने हठतर अभ्यास के बल से विवेक ख्याति की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों उसकी बुद्धि में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय हो जाया करता है। जब तक साधक के मन में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय नहीं होता तब तक अन्य जितनी भी बुद्धियाँ हैं वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष की तरह से अन्यान्य ज्ञानों को पैदा करती रहती हैं किन्तु सम्प्रज्ञात समाधि की चतुर्थ श्रेणी में जब योगी पहुँच जाता है तभी उसके मन में ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्राकट्य आरम्भ हो जाता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय हो जाने के बाद योगी अतीतानागत सभी प्रकार के ज्ञानों को अपनी बुद्धि में धारण करता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय हो जाने पर योगी किस प्रकार से सभी प्रकार का दृष्टा हो जाता है, योग दर्शन में समाधि पाद के 47 वें सूत्र के भाष्य में योगी किस प्रकार सभी कुछ देखता है इस बात को समझाने के लिये एक श्लोक कहा है जो इस प्रकार है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य,

अशोच्यः शोचतो जनान्।

भूमिष्ठानिव शैलस्थ,

सर्वान प्राज्ञोऽनुपश्यति।।

अर्थात् योगी जिस समय बुद्धि के उच्चतम प्रसाद पर बैठ जाता है तब वह स्वयं अशोच्य हो जाता है अर्थात् मनुष्य मात्र की चिंता से परे उसकी स्थिति हो जाती है। जिस प्रकार पर्वत शिखर पर बैठा हुआ मनुष्य भूमि पर रहने वाले मनुष्य को भली प्रकार देख लेता है इसी प्रकार से ऋतम्भरा प्राप्त योगी सभी पदार्थों का ज्ञाता हो जाता है। यह ऋतम्भरा प्रज्ञा श्रुत और अनुमान के विषय से आगे की वस्तु है, क्योंकि यह यथार्थ ज्ञान को प्रकट करने वाली है और इसके उदय हो जाने पर अन्य सभी व्युत्थान संस्कार आशय रुक जाया करते हैं। उनको यह स्वभाव से ही रोक देती है इसलिये भगवान पतञ्जलि देव ने—

तज्जः संस्कारोऽन्य संस्कार ग्रतिबन्धी।

अर्थात् इस बुद्धि के संस्कार अन्य संस्कारों को रोकने वाले हो जाते हैं। अतः मनुष्य जिस समय में परार्थ भावों को छोड़ कर स्वार्थं संयम करता है तो वह आत्मसाक्षात्कार की ओर बढ़ जाया करता है और प्रातिभ श्रावण, वेदनादर्श आदियों का ज्ञान बिना किसी प्रयास योगी के मन में अनायास ही प्रकाशित हो जाया करता है। देखिये पातञ्जल योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव स्वयं अपने मुखारविन्द से क्या उपदेश करते हैं:-

ततः प्रातिभ श्रावण वेदनाऽदर्शा-स्वादवार्ता जायन्ते।

जिस समय योगी पदार्थ भावों को छोड़ करके स्वार्थ में संयम करता है उस समय उसके मन में सर्व प्रथम प्रातिम ज्ञान का उदय होने लगता है। प्रातिम ज्ञान को तारक ज्ञान बतलाया गया है और यह विवेक ज्ञान का पूर्व रूप है। प्रातिम ज्ञान की स्थित को इस प्रकार समझ लेना चाहिये जैसे सूर्योदय से पूर्व उषा काल में धुंधले-धुंधले प्रकाश में मनुष्य सब कुछ देखने लगता है इसी प्रकार योगी निर्वाणोन्मुखी वृत्ति पैदा हो जाने के बाद ज्यों-ज्यों वह स्वार्थ संयम् के बल से आत्म साक्षात्कार को ओर को बढ़ता है त्यों-त्यों प्रातिभ ज्ञान स्पष्ट होने लगता हैं। उषा काल में जैसे पहले मन्द-मन्द प्रकाश उदित होकर वह स्वाभाविक ही उत्तरोत्तर सूर्योदय के प्रचण्ड प्रकाश की ओर बढ़ता चला जाता है और सूर्योदय हो जाने के बाद वह अरुणोदय वाला प्रकाश भी नहीं रहता और सूर्योदय

का शुभ प्रकाश हर वस्तु के स्वरूप की यथार्थता से प्रकाशित कर देता है इसी प्रकार से प्रातिभ आदि ज्ञान आत्म साक्षात्कार के पूर्व काफी सत्यार्थ के प्रकाशक हो जाते हैं किन्तु आत्म साक्षात्कार के हो जाने के बाद योगी जो देखता है सत्य देखता है। उसकी किसी भी चेष्टा में अन्यथात्म नहीं रहता। संसार में इस प्रकार के बहुत से जीव समय-समय पर प्रकट होते रहा करते हैं जिनके जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास के फलस्वरूप स्वाभाविक ही प्रातिभ ज्ञान रहा करता है। वह किसी बात को स्पष्ट रूप से तो नहीं कह सकते कि क्या होना है और कैसा होना है किन्तु उनकी बुद्धि के अन्दर यह निश्चय रहा करता है कि अमुक बात इस प्रकार से होने वाली है ऐसी ही होगी क्योंकि मेरी बुद्धि में यह विचार दृढ़ हो रहे हैं। इस प्रकार के साधक भव प्रत्यय वाले साधक कहलाया करते हैं। योग दर्शन के समाधि पाद में यह बात भगवान पतञ्जलिदेव ने अपने मुखारबिन्द से स्वयं स्पष्ट की है।

भव प्रत्ययोविदेह प्रकृति लयानाम्।

अर्थात् विदेहानां देवानाँ प्रकृतिलयानाञ्चयोगिनाम भव प्रत्ययो भवति। जो योगी योग भ्रष्ट हो जाने पर स्वार्गादि लोक लोकान्तरों को चले जाया करते हैं और बाद में पुण्योपभोग के पश्चात् जब उनको पुन: मनुष्य लोक में जन्म लेना पड़ता है तो देव लोक में जो ज्ञान उनको दूर दर्शन दूर श्रवण आदि के स्वाभाविक प्राप्त थे वह यहां जन्म लेने के बाद भी उनके मनों में थोड़े-थोड़े प्रकट होते रहा करते हैं। इसी प्रकार से जो योगी अभी आत्म साक्षात्कार तक नहीं पहुँच पाये और उनके शरीर का अन्तकाल आ गया वे योगी प्रकृतिलीन योगी कहलायेंगे। यद्यपि यथार्थ रूप में वे स्वार्थ संयम करके पौरुषेय ज्ञान को प्राप्त नहीं हुए किन्तु फिर भी उन्होंने थोड़ा-थोड़ा निर्वाणोन्मुखी वृत्ति का आश्रय लिया ही था, इतने में ही देहावसान का समय आ गया ऐसी स्थिति में प्रकृति लीन होना ही उनके लिये स्वाभाविक हो गया। ऐसी स्थिति में प्रकृति लीन होने पर क्योंकि उनका चित्त साधिकार है और अपने उस साधिकार चित्त के द्वारा ही वे लोग 'कैवल्य पदमिवानु भवन्त' की स्थिति को प्राप्त हो गये हैं किन्तु चित्त के साधिकार रहने के कारण उनका जन्म होना भी अवश्यम्भावी है और जन्म लेने पर पूर्व ज्ञान का उदय भी अवश्यम्भावी है। इसलिये ऐसे लोगों को भी प्रातिभ ज्ञान का आभास रहा करता है। इस विषय को अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन का प्रश्नोत्तर देते हुए इस प्रकार से स्पष्ट कर दिया है—

पार्थ नैवेह नामुत्र,
विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याण कृत्कश्चिद्,
दुर्गतिं तात गच्छति।।
प्राप्य पुण्य कृतां लोका-
नुषित्वा शाश्वती: समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे,
योग भ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव,
कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लतरं लोके,
जन्म यदीदृशम्।।
तत्र तं बुद्धि संयोग,
लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूय:
संसिद्धौ कुरु नन्दन।।

अर्जुन का प्रश्न था योग भ्रष्ट व्यक्ति की क्या गति होती है, उसका उत्तर देते हुए भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा है कि हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का इस लोक व परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। वह अपने योगाभ्यास के पुण्य के प्रभाव से दिव्य स्वर्ग लोक को भोग कर पुन: इसी मनुष्य लोक में जन्म ले लेते हैं। उनका जन्म यहाँ पर पवित्र धनवानों के घर में अथवा योगियों के ही कुल में हुआ करता है और इस प्रकार का जन्म भी इस मनुष्य लोक में अत्यन्त दुर्लभ है। यहां जन्म लेने के बाद उन को पौर्वदेहि बुद्धि संयोग फिर से प्राप्त हो जाया करता है जिसके फलस्वरूप वे लोग पुन: अपने अभ्यास में लग जाया करते हैं अत: जन्मजन्मां तर

के अभ्यासी कितनी ही आत्माओं को प्रातिभ आदि ज्ञान भी स्वाभाविक रहा करते हैं। जो योगी अभ्यास करते-करते आत्म साक्षात्कार के नजदीक पहुँच गये हैं उनको यह प्रातिभ नाम का तारक ज्ञान तो स्वाभाविक होता ही है किन्तु उसके साथ-साथ श्रावण वेदनादियों के ज्ञान भी स्वाभाविक हो जाया करते हैं। यह याद रखना चाहिये कि प्रातिभ-ज्ञान के अन्दर अतीत, अनागत की वस्तुयें, सूक्ष्म से सूक्ष्म और छुपी हुई एवं दूर देश वाली वस्तुओं का भी ज्ञान हुआ करता है।

श्रावण-ज्ञान

श्रावण-ज्ञान का अर्थ है दूर-दूर की बातें सुनाई देना। सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्दों को सुनना वहां तक जहाँ तक आकाश का सम्बन्ध है, वहां तक की कुल ध्वनियाँ आत्म साक्षात्कार के नजदीक वाला योगी स्वाभाविकत: ही सुन लेता है और उन शब्दों का अर्थ-ज्ञान भी उसको हो जाया करता है।

वेदना

वेदना का अर्थ है दिव्य स्पर्शों का ज्ञान। स्वायत्त चित्त होकर बैठे योगी को यदि कोई आकर के नमस्कार करता है या किसी भी प्रकार का सूक्ष्म स्पर्श उस योगी को होता है तो उसका अनायास ज्ञान योगी को हो जाता है। इसी प्रकार से आदर्श ज्ञान का अर्थ है सूक्ष्म से सूक्ष्म रूपों को देखना। यह भी योगी को स्थिति में बिना प्रयास के हो जाया करता है। इसी प्रकार से दिव्य आस्वादों का अनुभव करना दिव्य गन्धों का ग्रहण करना आदि-आदि सब बातें आत्म साक्षात्कार के नजदीक पहुँचते हुए योगी को स्वभाव से होने लगती हैं। आजकल के साधु समाज में हर व्यक्ति जो थोड़ा सा भी भजन ध्यान करता है वह अपने वेश के बल पर बड़े अभिमान पूर्वक कह बैठता है कि अब मेरा तीन लोक में कोई भी कर्त्तव्य नहीं रहा है प्राप्त प्रापणीयं जिस वस्तु की आवश्यकता थी वह मैंने प्राप्त कर ली है।

छिन्न: श्लिष्ट पर्वो भव संक्रम:।

पौरी दर पौरी जुड़ा हुआ संसार चक्र मैंने काट दिया है किन्तु यथार्यत: उपरोक्त स्थिति से वे लोग बहुत दूर होते हैं। उपरोक्त सारी बातें आत्म साक्षात्कार के सन्निकट पहुँचने वाले योगी को हुआ करती हैं और जिन लोगों को पूर्ण रूपेण आत्म साक्षात्कार हो जाया करता है उनकी सर्व ज्ञातृत्व शक्ति पराकाष्ठा की हुआ करती है। अत: साधक को चाहिये कि यथार्थानुभूति के बिना अपने आपको कृतार्थ होने के भ्रम में न डाले एवं अपने आपको अनभ्यासी व अकर्मण्य न बना दे। जो लोग सब प्रकार से इन्द्रियों का दमन करके सफल प्रयास करते रहते हैं वह अवश्य ही नि:श्रेयस सिद्धि अर्थात् स्वरूप साक्षात्कार को प्राप्त हो जाया करते हैं।

सिद्धियाँ उपसर्ग कहाँ?

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग दर्शन के कैवल्यपाद के प्रथम सूत्र में भगवान पतंजलि देव ने—

'जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः'

कह कर के पाँच प्रकार के सिद्धियों के प्रकार बतलाये हैं। जिनमें से प्रथम जन्म से होने वाली सिद्धियाँ हैं। जैसे- किसी मनुष्य ने तप और स्वाध्याय के फलस्वरूप उत्तम कुल में मनुष्य जन्म ग्रहण किया, उसको जैसा भी दिव्य या अदिव्य शरीर प्राप्त हुआ वह प्राक्तनकर्मविपाक के अनुसार ही उसे वैसा ही प्राप्त हुआ है। यह जन्मजा सिद्धि कहलाती है। अपने जन्म के साथ ही उसको यह सिद्धि प्राप्त हुई और मरणपर्यन्त बनी रहेगी। दूसरे इस उदाहरण को इस प्रकार समझ लेना चाहिए— पक्षियों का आकाशगमन करना उनकी जन्मजा स्वाभाविक सिद्धि है। इसी प्रकार से जल में ऊँची और नीची गति लेना मछली को जन्म से स्वाभाविक सिद्धि है। यही जन्मजा सिद्धि कहलाती है।

इसके बाद दूसरी सिद्धि जिसका भगवान पतंजलि देव ने औषधियों से होने वाली सिद्धि कहकर जिक्र किया है। दिव्य औषधियाँ सेवन करने से मनुष्य के शरीर में तत्काल ही एक नया परिणाम पैदा कर देती है। जैसे कितनी ही ऐसी औषधियों के सेवन करने से मनुष्य कायाकल्प कर डालते हैं। यह कायाकल्प औषधि की शक्ति से प्राप्त हुआ। इस लिए इसका नाम औषधिजा सिद्धि नाम से प्रख्यात हुआ। एक मनुष्य सन्निपात के दुष्परिणाम स्वरूप मरण शैया पर पड़ा हुआ है। एक आयुर्वेद विद्वान कोई दिव्य रसायन उसको खिलाता है तो वह तत्काल बोलने लगता हैं यह सब कुछ उस औषधि का ही प्रभाव हुआ जिससे कि वह इस प्रकार बोलने लग गया। यह उस औषधि के बल से ही हुआ क्योंकि वह इस शक्ति से शून्य हो चुका था। इसी हेतु ऐसी सिद्धि को औषधिजा सिद्धि कहते हैं—

कायचिन्तेन्द्रियाणामभिष्ट उत्कर्ष सिद्धि।

क्योंकि सिद्धि का अर्थ ही यह है जो काय चित्त इन्द्रियों में यकायक परिणाम दिख लाये। उसके बाद तीसरी सिद्धि भगवान पतंजलिदेव ने मन्त्रजा कहकर वर्णन की है।

मन्त्र के जपने से किसी के शरीर में तत्काल ही विशेष परिणाम पैदा होता है। उसी का नाम मन्त्रजा सिद्धि है। पाठकों ने बहुत जगह पर यह देखा होगा कि बहुत से लोग कई-कई प्रकार के रोग हटाने के लिए छोटे-छोटे उपचार किया करते हैं और वे साधारण से किन्हीं साधु-महात्मा के द्वारा बताये हुए साधारण-साधारण हिन्दी के शब्दों में मन्त्र सूर्य-ग्रहण-चन्द्रग्रहण आदि के समय जप लिया करते हैं। उनके जपने की विशेष विधि हुआ करती है। उस विधि के साथ जप कर लेने पर उन्हीं मन्त्रों से सिद्धियाँ हो जाया करती हैं और उन मन्त्रों को जपने से लोगों का कष्ट निवारण होते देखा गया है। इसी प्रकार की सब सिद्धियाँ मन्त्रजा सिद्धियाँ कहलाती हैं। वेदमन्त्रों के प्रयोग से जो यज्ञ-अनुष्ठान किये जाते हैं और उनसे बड़े-बड़े दिव्य फल प्राप्त किये जाते हैं वे भी मन्त्रजा सिद्धियाँ हैं। जिनके फलस्वरूप संसार में बड़े-बड़े अनुपम लाभ देखने में आये हैं। इस मंत्रजा सिद्धि के बाद चौथी सिद्धि है- तप से होने वाली।

साधक ज्यों-ज्यों अपने द्वन्द्व सहन का अभ्यास बढ़ाता है त्यों-त्यों उसको तप से होने वाली सिदियाँ उपलब्ध होती चली जाती है। जैसे- ध्रुव को ध्रुवत्व तप से प्राप्त हुआ। क्योंकि हमारे आचार्यों का मत है—

तपसाब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नत।

अर्थात् तप और ब्रह्मचर्य के द्वारा देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया। तप के निरन्तर अभ्यास करने पर कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि प्राप्त हो जाती है। यही सब सिद्धियाँ तपोजा

सिद्धियाँ कहलाती हैं। इसी प्रकार से योगी जो अपने अभ्यास के बल से सिद्धियाँ प्राप्त करते है वे समाधिजा सिद्धियाँ कहलाती हैं। जिन सिद्धियों का वर्णन योग-दर्शन के विभूति पाद में आया है वे सभी सिद्धियाँ समाधिजा सिद्धियाँ हैं। सिद्धि शब्द का अर्थ हम पहले ही लिख चुके हैं—

कायचित्तेन्द्रियाणामभिष्टुत्कर्षः सिद्धिः।

अर्थात् काया, चित्त एवं इन्द्रियों का मन चाहा उत्कर्ष ही सिद्धि है। जैसे इस समय हमारा शरीर गुण-धर्मों के कारण दुर्बल एवं कृश है किन्तु तत्व विजयी योगी अपने संकल्प से शरीर के सभी अभावों की पूर्ति कर लेता है एवं किशोरवय बना रहता है। यह उसकी कायिक सिद्धि है। चित्त की चिन्तना-शक्ति से सभी अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाना, यह चित्त की शक्ति का परिणाम है। हमारे आँख की शक्ति इस समय सीमित है किन्तु योगाभ्यास के द्वारा जब हमारी नेत्र शक्ति का उत्कर्ष होगा तब हम करोड़ों कोस तक देखने लगेंगे एवं कर्णेन्द्रिय के द्वारा करोड़ों कोस तक का सुनने लगेंगे। घ्राणइन्द्रिय के द्वारा करोड़ों कोस तक की गन्ध ले सकेंगे। त्वचा के द्वारा करोड़ों कोस तक का स्पर्श कर सकेंगे। यही हमारी इन्द्रियों का पूरा-पूरा उत्कर्ष है। जिस इन्द्रिय की जिस तत्व से उत्पत्ति हुई है वह तत्व जहां तक विद्यमान हैं वहाँ तक उस इन्द्रियों की शक्ति विस्तृत होती है। उदाहरणार्थ जैसे हमारी आँख की उत्पत्ति अग्नि तत्व से है। अतः ब्रह्माण्ड भर में जहां तक अग्नि है, वहाँ तक अवश्य हमारी आँख देखने वाली हो सकती है। जहां तक आकाश है वहां तकके शब्द हमारे कान सुन सकते हैं। जहां तक वायु है वहां तक के दिव्यादिव्य स्पर्श हमारी त्वचा अनुभव कर सकती है। जहाँ तक जल है वहां तक के रसों के रस को हमारी रसना ग्रहण कर सकती है। जहां तक पृथ्वी है वहां तक के सभी प्रकार के गन्ध को हमारी घ्राण ले सकती है। इसी का नाम

कायचित्तेन्द्रियाणामभिष्टुत्कर्पश है।

इन सब बातों को सिद्धि का रुप लेकर भगवान पतंजलिदेव ने 'योग-दर्शन' के विभूति पाद में वर्णन किया है। इसलिए सिद्धि साधक की अपनी शक्ति है। शक्ति एवं शक्तिवान् का सदा ही अभेद रहता है। सदा ही अभेद रहता है। शक्ति, शक्तिवान् से भिन्न कोई चीज नहीं है। वह उसके साथ बिल्कुल अभिन्न है। जिस प्रकार से एक पहलवान व्यायाम करके एवं खुराकें खा-खा करके अपने शरीर को बलिष्ठ बना लेता है तो वह उसका बल सदा उसके काम आया करता है और शरीर में परिपूरित रहता है। बलवान से बल अभिन्न है, इसी प्रकार से शक्तिवान् से शक्ति अभिन्न है। अब रही यह बात कि बहुत से लोगों का यह मत है कि सिद्धि उत्कर्ष में अन्तराय (बाधा) है। इस सम्बन्ध में एक सूत्र भगवान पतञ्जलिदेव ने भी योग दर्शन के विभूतिपाद में

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।।

कह करके प्रातिभ श्रावण, वेदना, दर्श आदि को समाधि के लिए उपसर्ग कह कर व्युत्थान की स्थिति में सिद्धि कहा है। महर्षि की यह वाणी अवश्य सत्य है क्योंकि सिद्धि प्राप्त व्यक्ति मान-सन्मान के झमेले में पड़कर समाधि सुख के लिए लापरवाही कर बैठता है। इसलिए इन शक्तियों को महर्षि ने उपसर्ग कहा किन्तु जिस व्यक्ति ने यम-नियमों की साधना की हो एवं वैराग्य को पूर्ण रूपेण जागृत कर लिया हो तो वह व्यक्ति मानापमान के झमेले में कभी नहीं पड़ेगा। ऐसे व्यक्ति आप्तकाम हो जाते हैं। उनको कोई भी कामना प्राप्त करनी शेष नहीं रह जाती। इसलिए उनकी स्थिति में सिद्धियाँ कभी भी उपसर्ग नहीं बन सकतीं। सिद्धि मनुष्य का अपना बल है। जिस प्रकार से अच्छे खाद्य-पदार्थ खाने पर शरीर में बल होना स्वाभाविक है, इसी प्रकार से साधक को मन की एकाग्रता प्राप्त होने पर सिद्धियाँ हो जाना स्वाभाविक है। साधक को साधना काल में यदि सिद्धि नहीं हो तो उसकी साधना विफल है। इस प्रकार का साधन हीन व्यक्ति आत्मपद को भी नहीं प्राप्त कर सकता।

नायमात्माबलहीनेनलभ्यः।।

इसी कारण से भगवान सदाशिव ने अपने मुखारविन्द से स्वयं कहा है—

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं,

कैवल्यं परम पदम्।

सिद्धिमार्गेण लभते,

नान्यथा पद्मसम्भव।।

— योगशिखोपनिषद्

अर्थात् मनुष्य हजारों मार्गों में भटकता रहे, कैवल्य पद को प्राप्त करना बहुत कठिन है। केवल सिद्धि मार्ग ही एक ऐसा उत्कृष्ट मार्ग है जिसमें सहज ही कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है। इस लेख को लिखने की इस लिए ही आवश्यकता पड़ी क्योंकि बहुत से लोगों के मन में इस प्रकार की भ्रान्ति रहती है कि सिद्धिमार्ग में चलना ही नहीं चाहिए।

वस्तुत: बात तो यह है कि ऐसे लोग गतेन्द्रिय होते हैं। वे लोग कुछ भी नहीं कर सकते इसलिए।

असक्तस्तत्पदंगन्तुम् ततोनिन्दां प्रकुर्वति।

क्योंकि वह स्वयं सिद्धियों को पा नहीं सकते। इसलिए सिद्धियों को निन्दा करके ही अपने अभिमान की पुष्टि कर लिया करते हैं। इस विषय की एक छोटी सी लोकोक्ति है कि लोमड़ी को अंगूर खट्टे। बात साधारण ही है। जंगली जानवर लोमड़ी ने ऊँचे वृक्ष पर चढ़े हुए अंगूरों की बेल को देखकर अंगूर को खाने का प्रयत्न किया किन्तु जब वह उनको नहीं खा सकी तो निराश होकर बैठ गयी। उसकी स्थिति को देखकर किसी ने कहा कि— लोमड़ी। तुम ये अंगूर क्यों नहीं खा लेती। तो उसने उत्तर दिया कि भाई खा तो जरूर लेती किन्तु ये अंगूर खाने लायक नहीं हैं, खट्टे हैं। यही दशा उन लोगों की है जो विचारे साधना कर नहीं सकते। खाट पर पड़े रहकर उनको आराम करने की आदत पड़ गयी है, उनको सिद्धि होगी ही नहीं अत: सिद्धि की निन्दा कर के ही अपने मन को सन्तुष्ट कर लेते हैं। अत: विज्ञ पाठकों को चाहिए कि अपनी साधना को दृढ़ता के साथ उत्कृष्ट बनायें ताकि सब प्रकार के भय नष्ट जो जायें।

योग और परकाय प्रवेश

विशेष लेख :– श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

परकाय प्रवेश के विषय में बहुत सी किंवदन्तियां हैं। परकाय प्रवेश क्या वस्तु है। किन साधनों से यह क्रिया किस प्रकार प्राप्त की जाती है, इस बात को हर व्यक्ति नहीं जानता। किन्तु प्राचीन इतिहास और अब भी अनुभवी सन्तों के चरित्र यह भली प्रकार सिद्ध करते हैं कि समाधि सिद्ध योगियों ने स्थान–स्थान पर परकाय प्रवेश किये ओर उन उन शरीरों में जाकर विभिन्न प्रकार की क्रियायें एवं रहस्यों को समझा। कौन नहीं जानता जगद्गुरु आदि शंकराचार्य का शास्त्रार्थ श्री नगर में मण्डन मिश्र के साथ हुआ। श्री शंकराचार्य जी ने मण्डन मिश्र को परास्त कर दिया। मध्यस्था मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी विद्याधरी थी। शास्त्रार्थ आरम्भ होने से पहले शास्त्रार्थ की नियमावली बना ली गयी थी। उसमें निश्चय हुआ था कि शास्त्रार्थ में जो भी हार जायेगा वह अपने प्रतिवादी का शिष्य हो जायेगा। और उसी के आश्रम को स्वीकार कर लेगा। परिणाम हुआ भी इसी प्रकार का। शास्त्रार्थ में श्री शंकराचार्य जी ने मण्डन मिश्र जी को परास्त कर दिया। मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी विद्याधरी ने निर्णय दे दिया कि पराजय मण्डन मिश्र की हुई है। श्री शंकराचार्य जी जीत गये हैं। इसके परिणाम–स्वरूप मण्डन मिश्र का सन्यास ग्रहण करना भी निश्चित हो गया। किन्तु परम सौभाग्य–शालिनी देवी विद्याधरी ने देखा कि उसका पति शास्त्रार्थ में पराजित होकर सन्यास लेने वाला है एवं उसका यह गृहास्थ्य सम्बन्ध सदा के लिए समाप्त होने जा रहा है। देवी को एक युक्ति सूझी और उसने श्री शंकराचार्य जी से कहा– महात्मन! अभी आप मण्डन मिश्र को परास्त नहीं कर पाये हैं। आधा मण्डन मिश्र मैं आपके सामने मौजूद हूँ। यदि शास्त्रार्थ में आप मुझे भी जीत लेंगे तभी मण्डन मिश्र की पराजय समझी जायेगी।

श्री शंकराचार्य जी ने धर्मपरायण देवी की इस युक्ति को यथार्थ माना और देवी विद्याधरी के साथ शास्त्रार्थ करने को तैयार हो गये। देवी विद्याधरी ने कामशास्त्र से सम्बन्धित वाद प्रस्तुत किया उस की विद्वता और पाण्डित्य पूर्ण तर्कों को जानकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्री शंकराचार्य जी को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और वे अपने आपको पराजित सा समझने लगे। अपनी होती हुई घोर पराजय को देखकर ब्रह्मचारी शंकर ने विद्याधरी से छ: महीने का अवकाश माँगा। विद्याधरी ने वह अवकाश श्री शंकाराचार्य को दे दिया और श्री शंकराचार्य जी ने विद्याधरी के गूढ़ प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने के लिए एक राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया और उस शरीर के द्वारा काम–कला के सभी रहस्यों को सीख लिया। उन दिनों शंकाराचार्य जी का वह त्यक्त शरीर उनके शिष्यों ने श्री अमरनाथ जी की एक गुफा में तेल के कड़ाहे में डालकर सम्हाल कर रखा। श्री शंकराचार्य जी ने अपने शिष्यों को यह संकेत दे दिया था कि मैं इतने महीने के बाद पुन: इसी शरीर में प्रवेश करूँगा तब इसे तेल के कड़ाहे से निकाल कर बाहर रख देना जिससे मैं इसमें भली प्रकार प्रवेश कर सकूँ। वैसा ही हुआ भी। श्री शंकराचार्य जी पुन: अपने शरीर में आ गये। और विद्याधरी से मिलकर उसके कूट (रहस्यमय) प्रश्नों का जवाब दिया। बाद में मण्डन मिश्र और उसकी धर्म पत्नी विद्याधरी को परास्त करके विजय प्राप्त की। यह सब परिणाम श्री शंकराचार्य जी के परकाय प्रवेश के द्वारा हुआ। परकाय–प्रवेश के अन्य भी इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण है जो अनुभवी सन्तों ने करके दिखलाये।

भारतवर्ष में समय–समय पर इस प्रकार के सन्तों का प्रादुर्भाव होता रहता है जो अपने दिव्य जीवन में योग–सिद्धान्तों को प्रकट करते रहते हैं। आज से लगभग 40 वर्ष

पहले की बात है पंजाब के समाचार पत्रों में एक घटना कश्मीर श्री नगर की बहुत ही (विशद) रूप से प्रकाशित हुई थी। श्री नगर की किसी वनस्थली में एक वृद्ध महात्मा निवास करते थे। उनके शिष्य एक वकील थे। वकील से महात्मा ने कहा कि भाई शरीर जर्जरीभूत हो चुका है, इसमें खान-पान और चलने फिरने की योग्यता नहीं रह गयी है। इस शरीर का परिवर्तन बहुत आवश्यक है। जन्म लेंगे तो जन्म-मरण के महादु:ख को भोगना पड़ेगा। इसलिए अच्छा यही है कि हम किसी युवा के शरीर में प्रवेश कर जायें और उस शरीर को लेकर के हम अपनी साधनाओं में लगे रहें किन्तु किसी हिन्दू का शरीर तो हमें मिलेगा नहीं क्योंकि वे लोग देहान्त के बाद शरीर को जला देते हैं। मुसलमान का शरीर मिलेगा क्योंकि इन लोगों के शरीर दफनाये जाते हैं। दो एक दिन में ही किसी मुसलमान युवा लड़के की मृत्यु हो गयी। वकील ने महात्मा जी को सूचना दी। लड़का पवित्र विचार का था, शुद्ध आहार विहार का था। महात्मा जी ने उसी के शरीर को अपना बनाने का निश्चय कर लिया और अपने शिष्य वकील को पूरी-पूरी बात समझा दी। आज ही रात को उस लड़के के शरीर को तुम निकलवा लेना, मैं और उस लड़के का शरीर पास-पास लेट जायेंगे। थोड़ी देर में दोनों शरीरों में स्पन्दन शुरू हो जायेगा। कुछ देर बाद शरीरों का स्पन्दन बन्द हो जायेगा। तुम अमुक आहार उसको खाने को दे देना और मेरे शरीर को लड़के के शरीर के स्थान में दबा देना। तुम घबराना नहीं लड़के के शरीर में स्वयं मैं हो होऊँगा। तुम चुपचाप अपने घर में लिवा लाना एवं छ: या सात रोज तक मेरे उस लड़के वाले शरीर की अमुक-अमुक औषधियों से मालिश करना एवं अमुक वस्तु खाने को देना। उसके एक सप्ताह बाद मैं कहीं भी चला जाऊँगा। वकील ने उसी प्रकार से सेवा की। लगभग एक सप्ताह या दस रोज बाद महात्मा जी उस लड़के वाले शरीर की लेकर कहीं चले गये। अकस्मात् महात्मा जी अमृतसर जा निकले, अमृतसर में मुस्लिम लड़के के रिश्तेदार उसके मामा आदि रहते थे। उन्होंने अपने उस लड़के के शरीर को पहचान लिया। बात-चीत की। यथार्थ में वह लड़का तो था ही नहीं। लड़के के शरीर में महात्मा जी थे। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करते रहे किन्तु लड़के के शरीर के मामा-नाना आश्चर्य मानने लगे कि उनका लड़का उनको पहचान ही नहीं रहा है। कारण का यथार्थ पता लगाने के लिए श्री नगर टेलीग्राम वगैरह देकर के लड़के के कब्र को दिखलाया तो उस लड़के के कब्र में महात्मा का जीर्ण-शीर्ण शरीर मिला। सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह क्या हुआ? शनै: शनै: चर्चा फैलने पर लोगों ने पता लगा दिया कि अमुक स्थान पर रहने वाले महात्मा जी ने अपना शरीर छोड़ दिया है। और हमारे लड़के के शरीर में प्रवेश करके वह कहीं चले गये हैं। मुसलमानों को तो यह जान कर हर्ष ही हुआ कि उनके बच्चे के शरीर को महात्मा जी ने स्वीकार कर लिया है और उनका लड़का कहीं सजीव मौजूद है। किन्तु बहुत प्रयत्न के साथ पता लगाने पर भी वे लोग यह पता नहीं लगा सके कि उनके लड़के के शरीर को धारण करने वाले आजकल कहां विराजमान हैं।

इस प्रकार से परकाय प्रवेश की बहुत घटनायें समय-समय पर समाचार पत्रों में भी प्रकाशित होती रहती हैं। और समय-समय पर अनुभवी सन्तों ने इन क्रियाओं का अनुभव भी किया है। यथार्थ में परकाय-प्रवेश क्या है, किस प्रकार किया जाता है। पढ़िये इस पर भगवान पतंजलि देव के सैद्धान्तिक विचार—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचार संवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेश:।

विभूतिपाद प. यो. दर्शन

अर्थात् मनुष्य का वासना भोग रूप कर्म चित्त के बन्धन का कारण है। जब योगी अपने समाधि बल से बन्धन के कारण को शिथिल कर डालता है और नाड़ियों में समाधि के द्वारा चित्त के आने जाने के मार्ग को स्पष्ट कर लेता है उस समय योगी अपने चित्त को अपने शरीर से निकाल करके दूसरे के शरीर में प्रवेश करा देता है। चित्त के निकल कर दूसरे के शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर सभी इन्द्रियां चित्त के साथ-साथ दूसरे के शरीर में प्रवेश कर जाती हैं। जैसे मधुमक्खियों में प्रधान मक्षिकाराज-रानीमक्खी के उड़ जाने पर अन्य मक्खियाँ उड़ जाया करती हैं और जहां वह रानी मक्खी बैठती है वहीं सब

बैठ जाया करती हैं। इसी प्रकार से चित्त के अधीन सभी इन्द्रियां जिस शरीर में चित्त प्रवेश करता है उसमें वे भी प्रवेश कर जाती हैं।

योगी का ये परशरीरावेश जीवित और अजीवित दोनों प्रकार के शरीरों में हुआ करता है। पढ़िये व्यासभाष्य की पंक्तियां—

लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशय-वशाद्बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः तस्य कर्मणो बन्ध-कारणस्य शैथिल्यं समाधि बलाद् भवति प्रचार संवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव कर्मबन्धक्षयात् स्वचित्तस्व प्रचार संवेदा-नाच्च योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्य-नुपतन्ति यथा मधुकरराजं मक्षिका उसतन्त मनु-त्पतन्ति निविशमानमनु निविशन्ते तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चिन्तमनु-विधीयन्त।

श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में जो भाव प्रकट किये वह ऊपर की पंक्तियों में लिखे जा चुके हैं। इस लेख में उदाहरणार्थ दो घटनायें श्री शंकराचार्य जी की एवं कश्मीर वाले योगी की परकाय प्रवेश की सच्ची घटनायें हैं। किन्तु कहीं-कहीं पर योगी जब अपने मन में परकल्याण की भावना रखता है तो जीवित शरीरों अपने चित्त का आवेश कर लिया करता है। और ऐसा परशरीरावेश स्वीकार कर के कहीं-कहीं योगिगज लोग दूसरों का भला किया करते हैं।

हमारे बहुत विस्तृत योग-प्रचार कार्यक्रमों में बहुत स्थानों पर इस प्रकार के परशरीरावेश देखे गये जिनमें स्वयं श्री प्रभुजी ने अपने चित्त का परशरीरावेश करके लोगों का भला किया। वरदान तक दिये। ऐसे शुद्धावेश के अन्दर जो-जो काम किये गये- वे सब काम तत्काल उसी समय हो भी गये। कई स्थानों पर कई लड़कियों में श्रीकृष्ण का आवेश हुआ और वे आठ-आठ घण्टे उस भावावेश के अन्दर खड़ी रहीं किन्तु योगिराज लोग हर स्थान पर अपने चित्त का आवेश नहीं करते। कहीं-कहीं जहां अन्तःकरण परम शुद्ध होता है वहां पर ही किसी विशेष लक्ष्य को मद्देनजर रख कर वे अपने चित्त का परशरीरावेश किया करते हैं। इसमें भी कोई शंका की बात नहीं है कि योगी योगिनियों ने परकाय प्रवेश किया। यह परकाय प्रवेश एक सिद्ध क्रिया है जिसके द्वारा योगिराज लोग अपने मनोवाञ्छित लोक-हित के कार्य किया करते हैं।

ऋषि दयानन्द और योग

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

आर्य जगत में यह वर्ष 'आर्य समाज शताब्दी' वर्ष के रूप में मनाया जा रहा है क्योंकि आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अब से ठीक एक सौ वर्ष पूर्व 1875 ई. में बम्बई नगर में आर्य समाज का स्थापना की थी। बम्बई की विशाल नगरी में तो एक सार्वदेशिक समायोजन इसी उपलक्ष में विशेष रूप से होने जा रहा है। वैसे देश के अन्य भागों में भीं शताब्दी वर्ष के आयोजन समय-समय पर आयोजित हुए हैं। स्वामी दयानन्द ने वैदिक सभ्यता और संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए जो कार्य अपने जीवन-काल में किया। वह निस्सन्देह अभूतपूर्व रहा। वे न केवल एक उच्च कोटि के समाज-सुधारक के रूप में यहाँ स्मरण किए जाते हैं किन्तु अपने अतुलनीय पाण्डित्य, अनुपम प्रतिभा और अपनी चारित्रिक शुचिता के कारण ऋषि और महर्षि के नाम से भी सम्बोधित किए जाते हैं। उनका जीवन सचमुच ऋषियों और मुनियों जैसा ही था। त्याग और तपस्या, सतत् स्वाध्याय शीलता, ईश्वर परायणता, उनके आचरण के मुख्य अंग थे। वेदों के अनुकूल ही इस देश के नहीं किन्तु समूचे विश्व के जन-जन का क्रिया-कलाप और व्यवहार हो, सही अर्थों में सभी आर्य हों और आर्य तथा वैदिक संस्कृति को ही सब अपनायें और तदनुसार सब का पारस्परिक व्यवहार हो यही उनका पावन उद्देश्य था और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित किया तथा इसी की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने जीवनकाल में आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी जी के इस उद्देश्य की पूर्ति देश तथा विदेश में फैले हुए आर्य समाजों के माध्यम से कितनी हुई तथा कितनी होनी शेष है। इसका मूल्यांकन करना आर्य समाजों के संचालकों का काम है और संभवत: इसी मूल्यांकन के लिए 'आर्य समाज शताब्दी समारोह' का आयोजन समाज के विचारवान मनीषियों ने किया है।

ऋषि दयानन्द ने इस देश की मतमतान्तरों के जाल में भटकी जनता को और उस अशिक्षित तथा अर्धशिक्षित जनता को जो उस समय अंग्रेजियत और इस्लामियत के प्रभाव में पड़कर अपने धर्म का परित्याग करती जा रही थी, स्वधर्म पर ही आरूढ़ रहने की जो प्रेरणा दी वह धर्म और संस्कृति के इतिहास में सदैव ही स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगी और इस देश का वृद्धिजीवी जागरूक समाज उनको सदा आदर एवं श्रद्धा के साथ स्मरण करता रहेगा।

जिन्हें ऋषि दयानन्द के साहित्य और जीवन वृत्त से पूर्ण जानकारी नहीं है ऐसे लोग बहुधा यह कहते सुने जाते हैं कि स्वामी दयानन्द जी ने योग के क्रिया-कलापों का भी अन्य रूढ़ियों के समान विरोध किया है। ऐसे लोग अपने कथन की पुष्टि में स्वामी जी के जीवन की इस घटना का उदाहरण भी दिया करते हैं कि एक बार नदी में बहते हुए शव का नाड़ी परीक्षण करने पर उन्हें उन सूक्ष्म नाड़ियों का कहीं पता नहीं चला, जिनका वर्णन-योग सम्बन्धी कुछ पुस्तकों में उन्होंने पढ़ा था। तभी से उन्होंने योग को वे पुस्तकें फेंक और योग मार्ग को वे एक पाखण्ड बताने लगे।

स्वामी जी के स्वलिखित जीवन चरित्र के आधार पर यह तो माननीय है कि उन्होंने एक शव का उच्छेदन करके हृदय-गत नाड़ियों का परीक्षण किया था और अपने परीक्षण में वह तन्तु जाल न पाकर जो उनके साथ बँधी योग पुस्तकों में था, उन्हें फाड़कर नदी में फेंक दिया था। यह भी माना जा सकता है कि अन्य पाखण्डों के समान योग के नाम पर किए जाने वाले पाखण्ड-प्रदर्शन के वे विरोधी थे पर इसका यह अर्थ नहीं कि वे योग-मार्ग और उसके विधि-विधान को अमान्य कहते थे। स्वामी जी ने स्वयं लिखा है कि पातंजलि और सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें जो विज्ञान और योग पर लिखी गई मिथ्या और अशुद्ध हैं।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पतंजलि और सांख्य शास्त्र स्वामी जी के दृष्टि में योग के मान्य आर्ष ग्रन्थ थे। पातजंल योग दर्शन के सूत्रों पर किए व्यास भाष्य को भी उन्होंने आर्ष ग्रन्थों की श्रेणी में लिया है और इसलिए ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में पतजंलिकृत योग दर्शन के सूत्रों पर अपनी व्याख्या के साथ-साथ व्यास भाष्य का भी उल्लेख किया है। स्वामी जी मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं बहुत बड़े योगी थे और योग-मार्ग को ही वे मोक्ष का एकमात्र आधार समझते थे।

अपने साधना काल की दुरूह पर्वतयात्रा में वे सच्चे योगियों की खोज ही करते रहे। इसी पर्वत यात्रा में ऊखी मठ के एक महन्त ने इनकी विद्वता को देखकर इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाने की बात कही थी लेकिन इन्होंने उसकी बात अस्वीकार करते हुए अपने उद्देश्य में लगे रहने का ही इरादा प्रकट किया। महन्त ने पूछा कि तुम्हारा उद्देश्य क्या है तो स्वामी जी ने स्पष्टता से उत्तर दिया— मैं सच्ची योग विद्या और मोक्ष चाहता हूँ। जब तक यह उद्देश्य पूरा न होगा तब तक निरन्तर प्रयत्न करता रहूँगा। ऐसे दृढ़ उत्तर से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वामी जी के मन में योग के प्रति कितनी निष्ठा थी और इसी निष्ठा के फलस्वरूप वे अपने जीवन में एक सच्चे योगी और ऋषि के रूप में मुखारित हुए।

'**ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका**' के 'उपासना विषय' प्रकरण में स्वामी जी ने योग सूत्रों पर जो अपनी व्याख्या की है वह बड़ी ही सारगर्भित है। यथा—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः

'चित्त की वृत्तियों को सब बुराईयों से हटा के शुभ गुणों को स्थिर करके परमेश्वर के समीप में मोक्ष के प्राप्त करने को योग कहते हैं और वियोग उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा के विरुद्ध बुराइयाँ में फँस के उससे दूर हो जाना।' इसी प्रकार उनकी अपने दृष्टिकोण से योग सूत्रों की व्याख्या साधकों के सामने और पढ़ने की अपेक्षा रखती है।

इन्द्रियों की चंचलता विद्यमान है, तब तक परम तत्त्व की चर्चा कहाँ? अर्थात् सांसारिक कामों से उपरामता और इन्द्रिय-निग्रह के बिना परब्रह्म की प्राप्ति कठिन और असम्भव है।

यावत् प्रयत्न रोगोस्ति यावत् संकल्प कल्पना।
यावतन्न मनसः स्थैर्यं तावत्तत्वकथा कुतः।

जब तक किसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का रोग (आपके मन में) विद्यमान है और संकल्प-विकल्प का क्रम जारी है एवं मन की पूर्ण रूप से निश्चलता नहीं है, तब तक परम तत्त्व की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है।

— कुलार्णव-तन्त्र

नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः।
तस्माद्ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्।।

निरन्तर अभ्यास किये बिना सच्चित्स्वरूप आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः जिज्ञासु को चाहिए कि कल्याण प्राप्ति के लिए चिर काल तक ब्रह्म-चिन्तन करें।

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परनन्दो नियमात्क्रियते बुधैः।।

सजातीय वृत्ति का प्रभाव और विजातीय का तिरस्कार— यही परमानन्द रूप नियम है। बुद्धिमान लोग इसका नियम पूर्वक पालन करते हैं।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भजेत्सर्वदा बुधः।।

जिसे न पाकर मनसहित वाणी लौट आती है तथा जिस मौन तक योगियों की ही गति है विद्वान सदा उसी को धारण करें।

— अपरोक्षानुभूति

उदान एवं समान वायु जय का फल

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमारे पूर्वजों ने हमारे शरीर के अन्तर्गत बहुत से स्थान माने हैं, जिन स्थानों पर विभिन्न प्रकार के नाम और रूप धारण करके प्राण वायु अपना काम करता रहता है, इनमें से पांच प्राण वायु मुख्य माने गए हैं भगवान शिव का लेख है:

हृदि प्राणो गुदेऽपान:,

समानो नाभि मण्डले।

उदान: कण्ठ देशस्थो,

व्यान: सर्व शरीरग:।।

प्राण वायु हृदय देश में काम करता है अपान गुदा में, समान नाभि मण्डल में, उदान कण्ठ देश में, एवं व्यान वायु सारे शरीर में व्याप्त रहा करता है। यह पाँचों प्राण वायु शरीर में अपने-अपने कार्य सम्पादन करते रहते हैं। इस लेख में सभी के निर्देशन की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। क्रमश: प्राप्त योग सूत्रों के अनुसार हमें अपने इस लेख में समान और उदान वायु के क्रमों को ही बतलाना है। भगवान पतंजलि देव अपने योग दर्शन में आदेश करते हैं कि—

उदानजयाज्जल पंक, कण्टकादिष्वसंग उत्क्रा-न्तिश्च।

अर्थात् उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेने पर योगी स्पर्श जल-पङ्क कण्टकादि में संग रहित हो जाता है। योगी उदान वायु के प्रभाव से अपने शरीर को ऊपर का ऊपर रोक लेता है। जल-पङ्क कण्टकादि में अपने पाद तल को लिप्यमान नहीं होने देता एवं ऊर्ध्वगमन करता है। पढ़िये इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ:

समस्तेन्द्रियवृत्ति: प्राणादिलक्षण जीवनं, तस्य क्रिया पंचतयी, प्राणोमुखनासिका गतिराहृदयवृत्ति:, समं नयनात्समानश्चानाभिवृत्ति:, अपनयनादपान आपादतलवृत्ति:, उन्नयनादुदान आशिरोवृत्ति:, व्यापी व्यान इति। तेषां प्रधानं प्राण:, उदानजयाज्जलपङ्क कण्टकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च प्रयणकाले भवति, तां वशित्वेन प्रतिपद्यते।

अर्थात् प्राण वायु समस्त इन्द्रियों को धारण करता है उसकी गति पांच प्रकार की मुख्य है। प्राण का निवास स्थान हृदय है और वह मुख नासिका गत है अर्थात् प्राण का शासन हृदय देश से लेकर मुख एवं नासिका पर्यन्त रहा करता है। इस देश के सभी कार्यों को प्राण सम्पादन करता है। सम नयन करने से समान वायु आनाभिवृत्ति है अर्थात् समान वायु का स्थान नाभि-मण्डल है वह अन्नादि के रस को सब शरीर में समान भाव से पहुँचता रहता है। इसीलिए इस वायु को समान वायु कहा गया है। अपनयनादपान आपाद तल वृत्ति:। अपान वायु अपनयन का कार्य करता है इसलिए इसका अधिकार पाद तल तक का है। 'उन्नयनादुदान' उदानवायु उन्नयन करती है अर्थात् इसकी गति ऊपर की ओर रहा करती है। यह प्राण आशिरोवृत्ति है। अर्थात् सिर पर्यन्त ऊपर के भागों में उदान वायु काम किया करती है। इनमें मुख्य प्राण वायु है। भगवान पतंजलि देव स्पष्ट रूपेण आदेश करते हैं। कि—

उदान जयाज्जलपंक कण्टकादिष्वसंग।

उदान जयाज्जल पङ्क कण्टकादिष्वसंग अर्थात् उदान वायु के जय प्राप्त कर लेने पर योगी अपने शरीर को ऊपर के ऊपर ही रोक लेता है। जल पङ्क कण्टकादि में अपने पादबल को लिप्त नहीं होने देता। एवं उत्कान्ति करता रहता है।

भारतवर्ष एक ऐसा देश है जिसमें इस प्रकार के योगी जिन्होंने अपने योगाभ्यास के बल से सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं रहा ही करते हैं। अभी कुछ समय पहले की बात है। ऋषिकेश में एक घटना घटी जो उदान जय का

उत्क्रष्ट प्रमाण है। ऋषिकेश में प्रिय-लाला रंगीलाल अग्रवाल मेरे प्रिय शिष्य हैं उन्होंने गंगा तट पर अपनी आंखों से देखा था और उन्होंने स्वयं ही अपने मुख से यह बताया कि ऋषिकेश नगर के उत्तर भाग में चन्द्रभागा नाम की नदी है इस के पवित्र अञ्चल में गंगा के तट पर चन्द्रेश्वर नाम का एक मन्दिर है उस चन्द्रेश्वर मन्दिर के समाने वाले पहाड़ को वसुधारा का पहाड़ कहते हैं। वहां पर जोर से की हुई ध्वनियां प्रतिध्वनित होती रहती है। पूजार्थी लोग श्री चन्द्रेश्वर महादेव के मन्दिर पर प्राय: जाते ही रहते हैं। एक दिन वहाँ पर्याप्त जन समुदाय इकट्ठा था इनमें प्रिय रंगीलाल भी उपस्थित थे। सभी लोगों ने देखा कि वसुधारा के पहाड़ से कोई योगी गंगा जल पर चलता हुआ इस तट की ओर आ रहा है। लोगों के मन में बड़ी भारी उत्सुकता हुई, वे सभी योगीराज के चरण-स्पर्श करने के लिए किनारे की ओर भाग चले। ज्योंही यह सब लोग गंगा तट पर पहुँचे त्योंही योगीराज जिस प्रकार आये थे उसी प्रकार गंगा जल पर पदातियों की तरह चलते हुए क्षण भर में गंगा के पूर्वी तट पर स्थित-पहाड़ पर चढ़ गये। योगीराज के इस चमत्कार को देखकर सभी दर्शक आश्चर्य-चकित रह गये। यह था उदान वायुजय का कार्य।

आगे के सूत्र में भगवान पतंजलि देव ने समान वायु के जय का फल लिखा है।

समानजयात्प्रज्वलनम्

अर्थात् समानवायु पर जय प्राप्त कर लेने पर योगी दीप्तिवान हो जाता है अर्थात् अग्नि-शिखा के समान तेजस्वी दिखाई देने लगता है और यदि समान वायु में उत्कृष्टता के साथ संयम करता है तो अग्नि शिखा पैदा करके शरीर को दहन करने की ताकत प्राप्त कर लेता है। अतिशय लावण्य को बढ़ा लेना तो उसके लिए बांये हाथ का खेल होता है। अभी पिछले वर्षों में समान वायु के जय की ज्वलन्त उदाहरण स्वरूप एक घटना उत्तर प्रदेश जिला एटा के अन्तर्गत गंज डुण्डवारा ग्राम में घटित हुई इसे भी वहाँ के निवासियों ने प्रत्यक्ष देखा।

'**गंज डुण्डवारा**' में एक पुराना गुरुद्वारा है उसमें एक अतिशय वयोवृद्ध सिक्ख निवास करते थे, वे समत्व भावना वाले सन्त थे। उनका किसी सम्प्रदाय से कोई आसक्ति युक्त सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने अपने संसार से प्रयाण की सूचना लोगों को पहले से ही दे दी थी, लोग साधारण भाव से पूछने लगे तो फिर आपके लिए ईधन का संचय करें। सिक्ख सन्त ने सरलता पूर्वक जवाब दिया नहीं भाई-साधु को ईधन की आवश्यकता नहीं होती वह जब चाहते हैं उनका शरीर ही ईंधन बन जाता है। ऐसा ही हुआ भी जिस दिन योगिराज सिक्ख को प्रयाण करना था उस दिन उनके संकल्प मात्र से उनके नाभि मण्डल से अग्नि की एक लाट सी निकलने लगी और उनके शरीर के चारों तरफ लपटे दे करके देखते देखते ही दहन कर डाला। प्राचीन इतिहास में भी इस प्रकार के प्रमाण काफी मात्रा में मिलते हैं। श्री जगदम्बिका सती का योगाग्नि प्रगट कर शरीर को जला देना सभी को ज्ञात है। हमारे पुराने इतिहास में इस प्रकार के अन्य उदाहराण और प्रमाण भी मिलते हैं जो '**समानजयात्प्रज्वलनम्**' के सिद्धान्त को यथार्थत: प्रगट कर डालते हैं। योग-विद्या सकलार्थो को प्रगट करने वाली है रही बात साधक समुदाय की अभ्यास एवं संलग्नता की। वह अधिकारी भेद से यत्किंचित सभी में पाई जाती है।

योगी के दिव्य श्रोत्र

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सिद्धयोग के इस वर्ष के कई अङ्कों में संयम का विषय चला हुआ है, पाठक यह भली प्रकार से जानते ही होंगे कि धारणा, ध्यान और समाधि एक ही लक्ष्य में स्थिर रहे हैं। तांत्रिकी परिभाषा में उसी वस्तु तत्व को संयम के नाम से कहा गया है। श्री पतञ्जलि जी के शब्दों में इसी बात को **'त्रयमेकत्र संयम'** कह करके पारिभाषित किया गया है। इस लेख से पहले लेख में हमने यह भली प्रकार समझाने का प्रयत्न किया है कि उदान वायु के एवं समान वायु के जय कर लेने पर योगी किन-किन सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। इस विषय को भारत में घटित होने वाली घटनाओं के उदाहरण सहित समझाने का प्रयत्न किया गया है। अब इससे आगे प्रकरण के अनुसार प्रस्तुत विषय है दिव्य श्रोत्रों की प्राप्ति के उपाय भगवान पतञ्जलि देव जी लिखते हैं कि—

श्रोत्राकाशयो: सम्बन्ध संयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।

अर्थात् कर्ण संकुली और आकाश के सम्बन्ध में योगी को संयम करने से अनायास ही दिव्य श्रोत प्राप्त हो जाया करते हैं। पढ़िये इस पर व्यास देव जी के भाष्य की पंक्ति—

सर्व श्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्वशब्दानांच यथोवत— ''तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति'' इति, तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गमनावरणं चोक्तम् तथाऽमूर्त्तस्यानावरण दर्शनाद्धि भुत्वमपि प्रख्यातमा-काशस्य शब्द प्रहणानुमितं श्रोतं। वधिरावधिरयोरेक: शब्दं गृहणात्यपरो न गृहणातीति, तस्माच्छोत्रमेव शब्द विषयं श्रोत्राकाशयो: संबंधे कृतसंयमस्य योगिनोदिव्यं श्रोत्रं प्रवर्त्तते।।

अर्थात् :— प्राणिमात्र के कर्णेन्द्रियों की प्रतिष्ठा अर्थात् आधार आकाश है और शब्द आकाश का गुण होने से सारे शब्दों का आधार भी आकाश है। एक समय में जो भी शब्द उच्चारण किये जाते हैं वे सारे के सारे शब्द सामान्य रूप से सभी को सुनाई देते हैं। यही आकाश का लिङ्ग है और इन्हीं सब कारणों से आकाश को आवरण लिङ्ग कहा गया है। इसी प्रकार से, अन्यत्र भी अमूर्त्त पदार्थों को अनावरण देखने से आकाश का व्यापकत्व सिद्ध होता है। शब्द को ग्रहण करने का आधार हमारी श्रोत्रेन्द्रिय है। श्रोत्रेन्दिय आकाश में ध्वनित शब्द को ग्रहण करती है और जहां श्रोत्रेन्द्रिय नहीं है वहां आकाश में जोरों की ध्वनि क्यों न होती रहे तब भी शब्द को ग्रहण किया नहीं जा सकता। अत: श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने वाला योगी दिव्य श्रोत्रों वाला हो जाता है। यह हमारा पुरातन ऋषि मुनियों का विज्ञान है। आजकल के समय के अन्दर में भी आधुनिक विज्ञानवादियों ने इसी आधार को सामने रखकर कई प्रकार के यंत्र तैयार कर लिए हैं जैसे- टेलीफोन, टेलीविजन, वायरलैस आदि। इन सभी यन्त्रों का सम्बन्ध श्रोताकाश और आकाश दोनों के सम्बन्ध से ही है। कोई भी बहरा व्यक्ति किसी भी प्रकार के टेलीविजन, टेलीफोन आदि को बिल्कुल नहीं सुन सकता यदि उसके कानों में श्रवण शक्ति नहीं है कुछ ऐसे भी यन्त्र तैयार किये गये हैं जो थोड़ी बहुत अवशेष श्रवण शक्ति को बढ़ाकर आकाश में होने वाले सभी शब्दों का बोध कराया करते हैं। अत: श्रोत्राकाश और आकाश इन दोनों के सम्बन्ध में संयम करने से भी योगी अपने श्रोत्रों को दिव्यता से दूर देशीय शब्दों को भी सुन सकता है। आकाश में शब्द कभी नष्ट नहीं होता, हर शब्द जो एक बार ध्वनित हो गया है वह हमेशा आकाश में विद्यमान रहा करता है। दिव्य श्रोत प्राप्त

योगी उन सभी शब्दों को भली प्रकार सुन सकता है जो आज से लाखों करोड़ वर्ष पहले ध्वनित हो चुके हैं। अभी पिछले दिनों हम कुरुक्षेत्र गये, वहां हमें एक वैज्ञानिक मिला। उसने हमें बतलाया कि कुरुक्षेत्र भूमि पर ढाई हजार वर्ष पूर्व होने वाली आवाजों को हमने यन्त्रों से पकड़ लिया है और अब हमारी इच्छा है कि श्रीकृष्ण के समय की एवं स्वयं श्रीकृष्ण की आवाजों को हम पकड़ें। यह तो आजकल के वैज्ञानिकों का पुरुषार्थ है किन्तु एक योगी जिसने श्रोत्राकाश सम्बन्ध विधि को समझ लिया है वह अवश्य ही दिव्य श्रोत्रों के प्रभाव से सभी शब्दों को सुन सकता है पर इन सभी विषयों को यथार्थता से जानने का आधार केवल मात्र संयम ही है। पाठकगण इस प्रकार की बातों को पढ़ करके हैरान न हों एवं अपने मन को बेकार में चिंतत भी न बनायें वरन् इस गहन विद्या का अध्ययन करके देख लें जिसके विषय में हमारे शास्त्र बार-बार मुँह खोल कर कह रहे हैं।

आलोक्य सर्व शास्त्राणि, विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं, योग शास्त्रं परंमतम्।।
यास्मन् ज्ञात सर्व, मिदे ज्ञातं भवति निश्चितम्।
तस्मित् परिश्रमः कार्यः, किमन्यच्छास्त्र भाषितम्।।

अर्थात्— हम सब सारे शास्त्रों को देख करके व विचार करके एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं जोकि योग शास्त्र ही परम् श्रेष्ठ है जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना जाता है साधक को उसी मार्ग पर परिश्रम करना चाहिए अन्य मार्गों में विचलित नहीं होना चाहिए क्योंकि योग मार्ग ही एक इस प्रकार का मार्ग है जोकि वस्तु तत्त्व की यथार्थता को भली प्रकार से जान लेता है। जो लोग धारणा ध्यान समाधि के अभ्यास से संयम को भली प्रकार से सिद्ध कर लेते हैं उनको इन सब विषयों को जान लेना कुछ भी कठिन नहीं। जिसने अपने जीवन को ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के पालन करने से सबल बना लिया है कोई देर नहीं लगेगी। पुरुष यदि प्रयत्न करेंगे तो ज्ञातव्य विषय को अवश्य-अवश्य जान ही सकेंगे।

योगी का आकाश गमन

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

इससे पहले लेख में हमने योगी के 'दिव्य श्रोत्रों' का वर्णन किया था— सूत्र था—

श्रोत्राकाशयो: सम्बन्ध संयमात् दिव्यं श्रोत्रम्।

कर्ण संकुली और आकाश का पारस्परिक अभेद सम्बन्ध रहता है। संयम समाधि की विशिष्टता का नाम है। यह हम इससे पहले के लेखों में भली प्रकार समझा चुके हैं। कर्ण संकुली में शब्द ग्रहण करने की ताकत रहा करती है। आकाश में शब्दों का संचय रहता है। योगी जिस समय कर्ण संकुली और आकाश के सम्बन्ध में संयम करता है तो वह कर्ण संकुली आकाश में स्थित शब्दों को ग्रहण करने लगती है, उसी से योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त हो जाते हैं और वह दूर-दूर की बातें सुनने लगता है। ठीक उसी प्रकार से योगी के शरीर का प्रतिक्षण स्थायी रूप है। योगी के शरीर का आकाश से सम्बन्ध बना रहता है। आकाश पोल का नाम है। अत: बहुत ही हल्का है। जहां पर पंच महाभूतों में आकाश ही प्रधानता रहती है, वह वस्तु हमेशा हल्की रहती है। आकाश में वायु व्यापक रहती है। वायु अपना बल देकर जिस वस्तु को आकाश की ओर ले जाती है वह वस्तु आकाश में उड़ने लगती है। जैसे छोटे गुब्बारों को बच्चे मुख से हवा भरके आकाश में उड़ाया करते हैं तो वह आकाश में उड़ जाया करते हैं। इसी प्रकार योगी के आकाश गमन की बात है। योगी की देहका सम्बन्ध आकाश से प्रतिक्षण बना रहता है। इस देह और आकाश के सम्बन्ध में जिस समय कोई योगी समाधि लगाता है, तो प्राण शक्ति उसको धारण करने लगती है, आकाश का हल्कापन योगी के शरीर में व्याप्त हो जाता है, उसी समय वायु अपने बल को देती है, तो समाधि के नियमानुसार हल्केपन में मन समाहित होने से योगी अपने शरीर को रुई के समान हल्का अनुभव करता है और आकाश गमन करने लगता है। पढ़िए भगवान पतंजलि देव का योगसूत्र और उस पर व्यास भाष्य—

कायाकाशयो: सम्बन्ध संयमाल्लघुतूल समापत्ते-श्चाकाश गमनम्।

व्यास भाष्य—

यत्र कायस्तत्राकाशं तस्यावकाशदानात्कायस्य, तेन सम्बन्ध:। प्राप्ति: तत्र कृत संयमों जित्वा तत्सम्बन्धं लघुषु तूलादिष्वापरमाणुभ्य: समापत्तिं लब्ध्वा जित सम्बन्धोलघु: लघुत्वाच्च जले पादाभ्यां विहरति, ततस्तूर्णनाभितन्तु मात्रे विहृत्य रश्मिषु विहरति, ततो यथेष्टमाकाश गतिरस्य भवतीति।

अर्थात् जहाँ काया है वहाँ आकाश है और उसमें आकाश होने से आकाश के साथ सम्बन्ध है। उस आकाश सम्बन्ध में संयम करने से योगी की समाधि लघु तूल आदि में भी अनायास ही हो जाती है। अत्यन्त हल्के रुई एवं परमाणु आदि में भी समाधि लाभ करने पर योगी का शरीर अत्यन्त हल्का हो जाता है और इसके फलस्वरूप वह योगी जल-पंक-कंटकादि में असंग हो जाता है। ऐसी स्थिति में पानी पर चलने लगता है। शनै:-शनै: उसकी योग्यता इतनी बढ़ जाती है कि वह मकड़ी के जाले पर भी चलने लगता है। उसके बाद सूर्य की किरणों को पकड़ लेता है उनको आधार बनाकर स्वतन्त्र आकाश गमन करने लगता है। योगी को यह सिद्धि उपलब्ध हो जाने के बाद भूतजय के प्रभाव से आकाश गमन करता है। यह सब कुछ योगी के समाधि बल का ही प्रभाव है। मन और प्राण का अभिन्न सम्बन्ध रहता है। जहां मन अपनी शक्ति को लगा देता है, इसी के फलस्वरूप आकाश गमन आदि होने लगते हैं। इसलिए प्रत्येक साधक को चाहिए कि वह मनोजय के प्रयत्न में लगा रहे, क्योंकि बन्धन और मुक्ति का कारण साधक का मन ही है। मन और प्राण के जय कर लेने पर ऐसी कोई वस्तु नहीं जो योगी को प्राप्त न हो सके।

''धर्म का आचरण करो, अधर्म का नहीं। सत्य बोलो, असत्य मत बोलो। दीर्घ दृष्टि रखो, संकुचित नहीं। ऊँची दृष्टि से देखो, नीची से नहीं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम, क्रोध और लोभ का त्याग, सम्पूर्ण प्राणियों से प्रेम करना, ये ही सब लोगों के लिए धर्म है। धर्म का निचोड़ कहता हूँ, उसे सुनो और सुनकर अपने जीवन में परिणित करो। जो व्यवहार तुम्हें रुचिकर न हो उसे दूसरों के साथ भी न वर्तो।

योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी का काय-निर्माण

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

श्री पातञ्जल योग दर्शन में योगी की शक्ति का वर्णन करते हुए श्री पतञ्जलि जी ने निम्नांकित सूत्र का उल्लेख किया है:-

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः

(समाधिपाद, सूत्र 40)

अर्थात् एकाग्र चित्त वाले योगी की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि उसका चित्त परमाणु से लेकर आकाश पर्यन्त अधिकार प्राप्त कर लेता है। इस सूत्र पर व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ इस प्रकार पढ़िये।

''सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थिति पदं लभत इति, स्थूले निविशमानस्य परम-महत्त्वान्तं स्थिति पदं चित्तस्य, एवं तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्या-प्रतिघातः स परो वशीकारः, तद्वशीकारा-त्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनराभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति।।40।।

अर्थात् जिस समय योगी अपने संयम के आधार पर सूक्ष्म तत्वों को जानने की इच्छा करता है, उस समय परमाणु पर्यन्त योगी का चित्त संयम से पहुँच जाता है और जिस समय स्थूल तत्व में संयम करता है तो आकाश आदि पर जय करके मूल प्रकृति पर्यन्त वशीकार प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार से योगी का चित्त बिना किसी रुकावट के संकल्प मात्र से सूक्ष्म और महान से महान में स्थिति को पा जाता है तो उसकी वशीकार संज्ञा हो जाती है। उसको फिर अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं रहती। संकल्प मात्र से जहाँ भी संयम करता है, वहीं उसका अधिकार हो जाया करता है। इस प्रकार संयम के आधार पर वह योगी पंच महाभूतों के ग्रहण, सूक्ष्म आदि रूपों पर अधिकार पा जाया करते हैं। वह भूतजयी योगी अपने शरीर में जैसा भी परिणामान्तर करना चाहते हैं, वैसा ही हुआ करता है। हमारे आज इस लेख का विषय है—

''योगयोगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी का कार्य-निर्माण।''

''श्री प्रभुजी के चरणारविन्द के विषय में '**साधारण सिद्ध-योगी**' कहना उचित नहीं है। उनके चरणारविन्दानुरागी साधुओं ने पूरा अन्वेषण कर इस बात को भली प्रकार से जान लिया है कि श्री प्रभुजी तत्वविजयी अनादिकाल श्रेणी वाले महासिद्धों में से एक हैं। उन्होंने अपने में संस्कार रखने वाले अनेकों प्राणियों के संस्कार निवृत्ति के लिए कितने ही स्थानों पर निर्माण-तन धारण किये। सर्वसाधारण के ज्ञान के लिए श्री प्रभु जी के कुछ चरित्र इस लेख में हम यहाँ उदाहरण रूप से दिखला रहे हैं।

एक बार श्री प्रभु जी के सवांई ग्राम में निवास-काल की एक घटना है जो वहाँ के निवासियों ने अपनी आँखों से देखी थी। श्री प्रभुजी सवांई ग्राम में निवास कर रहे थे तब श्री प्रभु जी सवांई आश्रम में रहते हुए बच्चों को खेल खिलाया करते थे। एक दिन अकस्मात् एक घटना घटी जिससे यह पूर्णरूपेण प्रमाणित हो जाता है कि श्री प्रभुजी एक साथ तीन जगह निर्माणित शरीर से प्रगट हुए।

गढ़मुक्तेश्वर में कार्य-निर्माण

एक दिन सवांई ग्राम के बहुत से व्यक्ति गंगास्नानार्थ गढ़मुक्तेश्वर गये। पर्व का मौका था। गंगास्नानार्थ जाने वाले लोगों ने श्री प्रभुजी से यह प्रार्थना की, कि प्रभो! आप हमारे साथ गंगा स्नान के लिए चलिए किन्तु श्री प्रभुजी ने कुछ अनमने भाव से कहा कि भाई हम जाकर क्या करेंगे? तुम लोग स्नान कर आओ। मन से हम हर समय तुम्हारे साथ हैं

गाँव के लोग इस बात को मान गये और गंगा-स्नान के लिए गढ़मुक्तेश्वर को चले गये। वहाँ पहुँचने पर जब वे लोग स्नान करने के लिए घाट पर गये तो उन लोगों ने देखा कि श्री प्रभुजी उनके साथ आ रहे हैं। लोगों ने कहा कि प्रभो! आप आ गये। श्री प्रभुजी ने कहा कि तुम सब लोगों की भावना थी, सो हम आ गये। लोगों ने कहा कि प्रभो! आपने यह बहुत ही अच्छा किया जो आप आ गये। हम लोगों की तीव्र भावना थी कि इस परम पवित्र पर्व पर आप हम लोगों के साथ होते। आपके बिना हम तो अपने स्नान को बिल्कुल बेकार समझते। इस प्रकार का वार्तालाप करते हुए श्री प्रभुजी वहाँ कुछ दूर तक उनके साथ चले और उसके बाद उन लोगों से कहा कि भाई! तुम लोग चलो, अब हम आ जायेंगे।

अलीगढ़ में भक्त-रक्षा हित काय-निर्माण

जिस दिन गढ़मुक्तेश्वर में यह घटना घटी, ठीक उसी दिन अलीगढ़ में इसी प्रकार की घटना घटी। ठाकुर कर्णसिंह श्री प्रभुजी के अनन्य भक्तों में से एक थे। वह उन्हीं के चिंतन में प्रतिक्षण लीन रहा करते थे। अकस्मात् चलते-चलते चिंतनलीन होने से उनका पैर रपटा और गहरे गड्ढे में पड़ने की स्थिति पैदा हो गयी। ठा. कर्णसिंह ने देखा कि श्री प्रभुजी पीछे खड़े हैं और उनके कन्धों को पकड़ कर कह रहे हैं कि अरे! कर्णसिंह होश सम्हाल कर चल नीचे कितना गहरा गड्ढा है। अभी तू इसमें गिर जाता तो प्राण रक्षा कठिन हो जाती। यह कहकर वे कुछ दूर तक उसके साथ चले। उसके बाद अन्तर्ध्यान हो गये। उधर सवांई सिद्धगुफा पर जैसे के तैसे बने ही रहे। उधर से गढ़मुक्तेश्वर वाले लोग और कर्णसिंह सवांई पहुंचे तो वहाँ पर श्री प्रभुजी पहले से विराजमान थे ही, इन लोगों ने आकर के कहा कि प्रभो! इतनी जल्दी आकर के आप हम लोगों से पहले कैसे आ गये? तो श्री प्रभुजी ने कहा कि हम तो यहाँ से गये ही नहीं, तुम्हें कोई दूसरा महात्मा मिल गया होगा। सभी को बहुत बड़ा आश्चर्य हुआ और सभी लोग समझ गये कि श्री प्रभुजी ने यह कार्य हम सबके हितार्थ, नव शरीर धारण करके किया।

मद्रास प्रान्त के प्रमुख शहर मछलीपट्टम में कार्य-निर्माण

मछलीपट्टम शहर से थोड़ी दूर पर गोदावरी नदी के उत्तरी तट पर सघन छायायुक्त एक वृक्ष खड़ा था। उसके नीचे वनीय स्थान में भिन्न-भिन्न स्थानों से साधु लोग आ करके अपना अभ्यास किया करते थे। उन सब में एक साधक विषयोग का अभ्यासी था, वह संखिये की एक ढेली पर सलाई से रेखा खींच कर चाट-चाटकर अपना अभ्यास बढ़ा रहे थे, उसका अभ्यास बहुत ही शनैः शनैः बढ़ रहा था। परम करुणार्णव श्री प्रभु जी वहाँ पर कार्य-निर्माण से प्रकट हुए और उस साधक को आश्वासन देते हुये कहा कि लाओ तुम्हारे इस अभ्यास को हम बढ़वा दें। यह कहकर श्री प्रभुजी ने एक संखिये की ढेली उठाई और उसे खाने को दे दिया। श्री प्रभुजी के साधुस्वरूप को देखकर उसने उन पर विश्वास किया और डेली खाली, वह उसे पच भी गई। उस विषयोगी को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ कि यह कौनसे महापुरुष हैं और कहाँ से आते हैं? श्री प्रभुजी ने उसे आज्ञा दी कि हम सप्ताह में एक बार यहीं वट-वृक्ष के नीचे मिल जाया करेंगे और तुम्हारे विषयोग का अभ्यास अवश्य-अवश्य पूर्ण करा देंगे। अपने कथनानुसार श्री प्रभु जी प्रति सप्ताह गोदावरी तट पर उसको विषयोग का अभ्यास कराते रहे। श्री प्रभुजी के दर्शन से उसको तरह-तरह के चमत्कार होते रहे और समाधि का अभ्यास उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

एक रोज उसने श्री प्रभु जी से हठ करके प्रार्थनापूर्वक पूछा कि प्रभो! आपकी कृपा से मुझे अद्भुत सफलता प्राप्त होती जा रही है। कृपा करके आप अपना परिचय कराइये कि आप कौन हैं और कहाँ से आया करते हैं? श्री प्रभुजी ने उसको बार-बार समझाया। भाई, हमारे परिचय से तुम्हें क्या लाभ होगा? हम साधु हैं, रमते राम हैं, आज यहां हैं तो कल वहां हैं। यह हठ तुम हमसे मत करो, किन्तु फिर भी वह साधक बराबर हठ करता ही रहा। उसके हठ के परिणामस्वरूप श्री प्रभुजी ने अपना परिचय दे ही दिया और कहा हमारा नाम ''राम योगी'' है। जन्मभूमि पंजाब है। पंजाब में हमारे शिष्य बहुत से हैं, जिनमें से मुलखराज, गोपालानन्द,

चन्द्रमोहन, नृसिंहादि प्रमुख हैं। उन सबको छोड़ करके हम चले आये हैं। वे लोग हमारे सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं। अब आज से छ: महीने बाद रायमहेन्द्रगढ़ शहर में योग प्रचार करता हुआ ओरुगण्टी नृसिंह मूर्ति तुम्हें मिलेगा, वह हमारा बच्चा है, शेष काम तुम्हें वह करायेगा। श्री प्रभुजी के कथनानुसार ठीक छ: महीने बाद रायमहेन्द्रगढ़ में योग प्रचार करते हुये श्री नृसिंह मूर्ति जी उसे मिले। उसने श्री प्रभुजी की सारी बातें बतायीं। अपने अनुरूप शिक्षा पाकर वह विषयोग का अभ्यासी होता चला गया। यह था श्री प्रभुजी का कार्य-निर्माण। एक जगह नहीं, उन्होंने अनेकों जगह निर्माण काय-शरीरों से अपने भक्तों की रक्षा की।

पंडित यशवन्त को काय-निर्माण से दर्शन

अमृतसर में पंडित यशवन्त शर्मा दुर्ग्याना मन्दिर के सामने लोहे के फाटक से बाहर माई धनवन्ती की धर्मशाला के सामने धूप और अगरबत्ती की दुकान करते हैं। ये बाल्यावस्था में कुछ समय के लिए आनन्दकन्द श्री प्रभु जी की सेवा में रहे थे। आयु बहुत छोटी थी। प्रभुजी से कई बार प्रार्थना की कि प्रभुजी, आप हमारा घर देखने के लिए चलें। श्री प्रभु जी साधारण भाव से कहते रहे, बेटा शान्ति रख, किसी दिन चलेंगे। एक दिन इस बाल ने बहुत हठ किया तो प्रभु जी ने कहा-अच्छा तू चल, मकान खोल हम आते हैं। बालक यशवन्त ने प्रभुजी की आज्ञा को मानकर तांगा मँगवा दिया और स्वयं दस कदम आगे चल कर अपने मकान को खोला तो दरवाजे के खोलते ही देखा कि वहां पर एक पलंग पर प्रभुजी पहले से ही विराजमान हैं। इस दृश्य को देखकर आश्चर्य में पड़ गया और हाथ जोड़ कर यह प्रार्थना की कि प्रभु जी! आप मुझसे भी पहले यहां कैसे पहुंच गये और मकान का ताला बन्द होने पर अन्दर प्रवेश कैसे किया? ताला तो मैंने ही खोला है। श्री प्रभु जी मुस्कुराने लगे। बेटा! हम तुम्हारे साथ ही तो आये हैं। इतनी देर में देखा कि जो तांगा यशवन्त ने प्रभु जी के लिये किया था, उसमें बैठकर आ रहे हैं। यह और भी बड़े भारी आश्चर्य की बात थी। यशवन्त हैरान रह गया। उधर देखा श्री प्रभुजी ताँगे में बैठे हुए हैं और इधर देखा पलंग पर भी बैठे हुए हैं, किन्तु-कौनसे स्वरूप को सत्य माने। श्री प्रभुजी के स्वरूप से ही प्रार्थना की, कि प्रभुजी! ताँगे में भी आप हैं और मकान में पलंग पर भी आप बैठे हैं। आपके किस स्वरूप को सत्य मानें। प्रभुजी हँस पड़े और हँसकर कहने लगे—बेटा! हम तो तुम्हारे साथ ही हैं, और कहीं थोड़े ही हैं। यह कहकर बालक यशवन्त को लेकर अपने स्थान पर चले आये।

श्री नारायणदास जी को खेचरी का उपदेश

पं. नारायणदास जी अमृतसर के रहने वाले थे। उनको श्री प्रभुजी ने खेचरी मुद्रा का अभ्यास करने की आज्ञा दी थी। वह शनैः शनैः दोहन, चालन, छेदन के द्वारा खेचरी का अभ्यास कर रहे थे। किन्तु बहुत प्रयास करने पर भी वे इस मुद्रा की साधना में सफलता नहीं प्राप्त कर सके। पं. नारायणदास स्वाध्यायशील व्यक्ति थे। स्वाध्यायशील व्यक्ति के स्वाध्याय का यह प्रभाव होता है कि ऋषि, मुनि, देवता और सिद्ध पुरुष एवं परमतत्व श्री गुरुदेव उसको दर्शन दिया करते हैं और अपनी शक्ति से उसकी मनोकामना पूर्ण किया करते हैं। घटना उसी प्रकार से हुई, नारायणदास खेचरी के लिए निरन्तर परेशान थे और मन में बहुत अधिक निराशा थी। वह सोचते थे यदि खेचरत्व लाभ नहीं होता तो मनुष्य शरीर को धारण करना व्यर्थ है। इस घोर निराशा के समय क्या देखते हैं कि श्री प्रभुजी सामने से आते हैं और कहते हैं बेटा! नारायणदास, तुम निराश क्यों हो रहे हो। लो तुम्हें हम एक मन्त्र बतलाते हैं, इसके जपने से तुम्होरी खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जायेगी। श्री प्रभुजी ने उसके पास रहकर के मन्त्र जपाया और स्वयं उसकी जीभ को पकड़ कर आगे को खींच दिया और मुद्रा लगाने की विधि को समझा दिया। उसी दिन से पं. नारायणदास की समाधि लगने लगी। वे इस मुद्रो को पाकर कृतार्थ हो गये। पं. नारायणदास को खेचरी मुद्रा का श्री प्रभुजी ने निर्माणकाय से उपदेश दिया था।

गुरु के बटाले में काय-निर्माण

अमृतसर में जगन्नाथ नाम के एक ब्राह्मण निवास करते थे। वे बड़े अच्छे कर्मकाण्डी थे, स्वाध्यायशील एवं सदाचारी थे। किन्तु श्री प्रभुजी के लीला चरित्रों में वे विश्वास नहीं करते थे।

वह समझते थे, वह सब बनावट है। यह अपने आपको सिद्ध योगिराज साबित कर रहे हैं। यथार्थत: ऐसा नहीं है। यही विचार इसके मन में घूमते रहते थे। एक रोज अकस्मात् एक घटना घटी। वह अमृतसर से 8 मील के दूरी पर गुरु का बटाला नामक एक गाँव है, किसी कार्यवश वहाँ गये हुए थे। घूमते-घामते एक बगीचे में पहुँचे, वहाँ जाकर देखा कि एक सुहावने वृक्ष के नीचे आसन डालकर प्रभुजी वहाँ बैठे हुए थे। मालुम पड़ता था वह कहीं से चलकर आये हुए हैं और आगे कहीं जाना चाहते हैं। पं. जगन्नाथ ने प्रभुजी को पहचान लिया और पहचान कर कहा सुनाइये महाराज! आप यहाँ अकेले कैसे बैठे हुए हैं। आपके साथ हजारों स्त्री-पुरुषों की भीड़ हमेशा रहा करती है। आज आपको अकेले देख कर मुझे आश्चर्य हो रहा है कि यह कैसे? प्रभु जी ने उत्तर दिया— भाई! हम सब झमेले को छोड़ आये हैं एवं अब यहाँ से हम नेपाल धाम को लौट रहे हैं। इस प्रकार से वहां पर कई घण्टे तक जगन्नाथ बात करते रहे। उसके बाद प्रभुजी से विदाई लेकर के अमृतसर चले आये। जिस समय जगन्नाथ अमृतसर आने लगे तो पं. जगन्नाथ से कहा-कि भाई! फलाँ-फलाँ कोठी पर जाकर हमारे बच्चों से कहना कि वे चिंता न करें। हम दुबारा मिलेंगे। पं. जगन्नाथ ने स्वीकार किया और अमृतसर आकर के कोठी में सभी सत्संगी भाइयों को सन्देश देने के लिए आया वहाँ आकर देखा कि सभी सत्संगी जोर से संकीर्तन कर रहे हैं। और देहावसान के समय कई घन्टे पहले जो शरीर छोड़ दिया था। उसको सम्हाले हुए हैं। पं. जगन्नाथ को बड़ा ही आश्चर्य हुआ और सभी से कहा कि भाई! मैं तो इनको साधारण मनुष्य ही समझता था किन्तु बड़े ही आश्चर्य की बात है। यहाँ पर यह शरीर मृत अवस्था में छूटा पड़ा है और मैं अभी-अभी आधा घन्टा पहले गुरु के बटाले में लगभग 4 घन्टे तक मिला, बातचीत की, विश्राम किया। अन्त में प्रभुजी से विदाई लेकर आया तो यहाँ पर यह दृश्य देखा। इसमें कुछ भी शंका की बात नहीं कि महाराज जी, परिपूर्णतम् योगिराज हैं। उनके लिए मरना, जीना, शरीर का छोड़ना और न छोड़ना दोनों ही समान हैं।

गुरु के बटाले का यह कार्य प्रभुजी का निर्माण काय का कार्य था। कहाँ तक लिखें आजकल भी उनकी इस प्रकार की हजारों घटनाएँ घटित होती रहती हैं। वह अपने बालकों के लिए हजारों शरीर को धारण करके विविध प्रकार के कार्य किया करते हैं। अभी कुछ वर्ष पहले हमने कितने ही शिष्यों के साथ नेपाल धाम की यात्रा की। हम लोग पशुपति नाथ के साथ वाली धर्मशाला के ऊपर वाले कमरे में ठहरे थे। वहाँ पर अकस्मात् एक साधु आया। और उसने बातचीत करते हुए हमें बतलाया कि उसको अभी कुछ दिन पहले दरभंगा के जंगलों में प्रभुजी के दर्शन प्राप्त हुए हैं और उसने उन्हीं से योग-दीक्षा प्राप्त की है। और कितने हीं दिन तक चरण सेवा में रहता रहा। उसने बतलाया कि प्रभुजी ने आज्ञा दी है कि मैं यहां आकर आपके दर्शन प्राप्त करूँ और प्रसाद लूँ। अन्तत: वह विभूति का प्रसाद लेकर वहाँ से तत्काल चला गया। प्रसाद लेकर चले जाने के बाद पुन: उस साधु के दर्शन नहीं हुए।

इस छोटे से लेख में अनेक रूप धारण करने वाले प्रभुजी की अनन्त लीलाओं का कहाँ तक वर्णन करूँ। अपने बालकों के हितार्थ वे कब-कब और कितने शरीर धारण करते हैं, यह सब कथन से बाहर है।

श्री रामनवमी प्रभु जी के प्रकट होने का दिन है। रामनवमी के अवसर पर ही 'सिद्ध-योग' का नये वर्ष का विशेषांक निकलता रहता है। हम प्रति वर्ष चाहते रहते हैं कि इस अङ्क में उनकी लीला चरित्रों का ही अधिक वर्णन आये। इसी भावना को विचार में रखते हुए हमने प्रभु जी के काय-निर्माण को लक्ष्य बना कर यह कुछ पंक्तियां लिखी हैं, जिनको पढ़कर के प्रत्येक साधक भली प्रकार से यह समझ सकेगा कि उन परात्पर प्रभुजी के कितने अद्‌भुत कार्य हैं और अपने बालकों के हितार्थ क्या नहीं करते हैं? अर्थात् सभी कुछ किया करते हैं। प्रभुजी के श्री चरणों से बार-बार आशीर्वाद है—

सर्वे भवन्तु सुखिन, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुख:भागभवेत्।।

योगमार्ग और विश्व-कल्याण

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

विश्व-कल्याण का उद्घोष आज चारों ओर सुनाई देता है। चाहे कोई सामाजिक संस्था हो या धार्मिक, लोक-कल्याण ही अपनी स्थापना का उद्देश्य बताती हैं। यही उद्देश्य लेकर समूचे भूमण्डल के देशों की सरकारें भी अपने-अपने क्षेत्रों में कार्यरत हैं। यहां तक कि भूमण्डलीय सरकारों का जो एक मिला-जुला संगठन बना है उसने भी अपना मुख्य उद्देश्य विश्व-कल्याण ही घोषित किया है और विश्व-कल्याण अथवा मानव-सेवा के व्यापक लक्ष्य को सामने रखकर ही इस भूमण्डलीय सरकारों के संयुक्त विश्व संघ जिसे अंग्रेजी में यूनाइटेड नेशनन्स भी कहा जाता है, की ओर से विविध प्रकार की परियोजनायें भी चलाई जाती हैं। युद्ध विराम आदि के आदेश देकर यही संगठन युद्ध-रत राष्ट्रों को रोककर उन्हें इस बात के लिए विवश करता है कि लड़ने वाले राष्ट्र अपने विवाद मिल-बैठकर आपसी वार्ता द्वारा तय करें। क्योंकि युद्ध निरपराध मानवों की हत्या करके विश्व का अकल्याण ही करता है। ऋषि, मुनि और साधु-सन्तों के जीवन का उद्देश्य भी विश्व-कल्याण रहता है और इसी विश्व-कल्याण के लिए वे सर्वस्व त्यागकर विरक्त भाव से सन्यास आदि आश्रमों में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी विश्व-कल्याण की भावना रखते हैं किन्तु विश्व के मानव के कल्याण करने का कौनसा मार्ग है अथवा इस साध्य को प्राप्त करने का साधन क्या है, यह विचारणीय है। भले ही इसका समाधान कोई किसी प्रकार से करें, उसे इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि विश्व-कल्याण की मूलभूत इकाई मानव-कल्याण ही है। अत: मानव-कल्याण की योजना ही विश्व-कल्याण की योजना हो सकती है। जब इस तथ्य को हम स्वीकार कर लेते हैं तब यह प्रश्न सामने आता है कि मानव के कल्याण का उसको शाश्वत सुख, शान्ति प्राप्त कराने का मार्ग कौनसा है? दर्शनकारों और ऋषि मुनियों ने इसका उत्तर दिया है— धर्मो रक्षित रक्षित:। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसको रक्षित रखता है। यानी जो धर्म का जीवन व्यतीत करता है धार्मिक मर्यादाओं का परिपालन जिसके जीवन का लक्ष्य होता है वही नि:श्रेयस और अभ्युदय को प्राप्त कर पाता है और अभ्युदय तथा नि:श्रेयस की प्राप्ति जिस साधन अथवा आचरण से हो सके वही धर्म है। जैसा कि दर्शनकार ने कहा है—

यतो अभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धिरस्स धर्म:

अब आइए हम इस प्रश्न पर विचार करें कि अभ्युदय नि:श्रेयस प्राप्त करने का मार्ग क्या है? निश्चित रूप से इसका उत्तर हमें पातञ्जलि योग दर्शन देता है। भगवान पतञ्जलि ने मानव वृत्तियों का गहराई से अध्ययन करके उन्हें मर्यादित और धर्मानुकूल बनाने के लिए यम और नियमों के परिपालन की जो पहली सीढ़ी बताई है वही अभ्युदय और नि:श्रेयस प्राप्ति का मार्ग है यदि मनुष्य यम और नियम का जैसा कि योग दर्शन में वर्णित है, दृढ़ता से पालन करने लगे तो समूचे मानव समाज और विश्व का कल्याण हो सकता है। विश्व-कल्याण की आधारशिला यदि रखनी है तो अहिंसा, सत्य, सन्तोष, अपरिग्रह, शौच, इन्द्रियनिग्रह आदि भावनाओं की परिपुष्टि जन-जन में करनी होगी और यही शिक्षा देता है योग दर्शन की।

अत: योग मार्ग ही एक मात्र ऐसा मार्ग है जिससे विश्व कल्याण बिना किसी वर्ग और देश की सीमाओं के प्रतिबंध के निश्चित रूप से हो सकता है। न अन्य पन्था विद्यते अयनाय के समान यहां योग मार्ग की मान्यताओं के मानने के सिवाय विश्व-कल्याण का कोई अन्य मार्ग है ही नहीं। यह प्रसन्नता और हर्ष का विषय है कि विश्व में अब सुख और शान्ति की स्थापना हेतु योग केन्द्रों की बहुधा स्थापना होने लगी है।

भारत में जगह-जगह अनेक योग प्रचारक संस्थान खुले हुए हैं और यह सभी अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार योग प्रचार द्वारा विश्व-कल्याण के कार्य में लगे हुए हैं। स्कूल और डिग्री कॉलेजों में योग की कक्षायें चलाई जाये यह प्रश्न भी सरकारों के विचाराधीन है। बनारस विश्व विद्यालय ने भी हाल ही योग पाठ्यक्रम को स्वीकृत करते हुए उसके प्रशिक्षण की एक उपयोगी योजना बना कर उसे अमली रूप देने का निश्चय किया है। विश्व-कल्याण अथवा मानव समाज के कल्याण के लिए यह सब प्रयास अभिनन्दनीय हैं। विश्व में योग मार्ग पर चलने का संकल्प लेने वालों की संख्या जैसे-जैसे बढ़ती जायेगी वैसे ही वैसे विश्व-कल्याण का स्वरूप स्पष्ट रूपेण हमारे सामने उजागर होता चला जायेगा। बिना योग मार्ग को अपनाये हम विश्व-कल्याण का लक्ष्य प्राप्त ही नहीं कर सकते। योगी ही स्वयं एश्वर्यवान होकर दूसरों को एश्वर्यवान बना सकता है। अत: योग धर्म अनिवार्यत: हमारे सबके जीवन का मुख्य अंग होना चाहिए। जब ऐसा होगा तभी संसार ताप से झुलसे हुए मानव का कल्याण होगा यही हमारा अपना अभिमत है।



श्रद्धा का महत्व

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भारतीय संस्कृति और भारतीय धर्म शास्त्रों में श्रद्धा की महत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकार की गई है। जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने तो बहुत ही स्पष्टता से श्री मद्भगवद्गीता में अपने अभिमत को व्यक्त करते हुए कहा है कि :—

श्रद्धा मयो अयं पुरुषो,

यो यत् श्रद्धः सा एव सः।

अर्थात् यह पुरुष श्रद्धामय ही है, जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वह वैसा ही होता है।

और आगे उन्होंने कहा है कि श्रद्धा सब लोगों में अपने-अपने सत्व के अनुरूप अर्थात् प्रकृति या स्वभाव के अनुसार ही होती है।

भगवान् ने श्रद्धा को स्वभावजा बतलाया है। **'श्रद्धात्रय विभाग योग'** नामक गीता के सत्रहवें अध्याय में उन्होंने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है :-

त्रिविधा भवति श्रद्धा,

देहिनां सा स्वभावजा।

सात्विकी राजसी चैव,

तामसी चेति तां शृणु।।

यानी स्वभावतः प्राणिमात्र की जो श्रद्धा होती है वह सात्विकी, राजसी और तामसी (अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार) होती है। तू उसका वर्णन सुन! मनुष्य इसी अपनी-अपनी सात्विक, राजसी और तामसी श्रद्धा के अनुसार देवता, यक्ष और राक्षसों के पूजन तथा अर्चन आदि कर्त्तव्यों के पालन में प्रवृत्त होते हैं।

मनुष्य पूर्णतः श्रद्धा के अधीन होता है। मन के दृढ़ विश्वास का नाम श्रद्धा है। जैसी जिसकी मनः प्रवृत्ति होती है श्रद्धा उसके क्रिया-कलापों द्वारा उसी रूप में प्रकट होती रहती है। श्रद्धा में बड़ा बल होता है। सात्विक श्रद्धा वाले पुरुष ईश्वर, वेद, शास्त्र और गुरुजनों के प्रति श्रद्धावान रहकर अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति करते हैं। जीवन के परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति भी श्रद्धा के बिना सुलभ नहीं होती। **'श्रद्धावांल्ल भते ज्ञानं'** इस वाक्य के अनुसार ज्ञान या ज्ञान रूप ईश्वर की प्राप्ति श्रद्धावान पुरुषों को ही हो पाती है। श्रद्धाविहीन मानव तो अन्त में विनाश की गति को ही प्राप्त होते हैं। योग-दर्शन के रचयिता भगवान पतंजलि ने भी योगियों को भी श्रद्धावान् होने का परामर्श दिया है, क्योंकि श्रद्धा माता के समान योगियों और साधकों की रक्षा करती है। समाधि पाद के 20 वें सूत्र में वे लिखते हैं—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् दूसरे योगियों को (जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं) छोड़कर-योग श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, समाधि प्रज्ञा से होता है, इसी से इसे उपाय-प्रत्यय कहा गया है।

आप थोड़ा इस सूत्र की शब्द-योजना पर विचार करें। उपाय-प्रत्यय के हेतु वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञापूर्वक इत्यादि जो उपाय बताये गये हैं उनमें श्रद्धा को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है।

भगवान् व्यास देव ने आचार्य पतञ्जलि देव के उपरोक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रद्धा की परिभाषा में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं :-

श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्धानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजात वीर्यस स्मृतिरूप तिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्त मनाकुलं समाधीयते। समाहित चित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्तते।

येन यथावद्वस्तु जानाति तद्भ्यासात्तत्तद्विपयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञात: समाधि-र्भवति।

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता को श्रद्धा कहते हैं। ऐसी श्रद्धा से युक्त योगी ही इस योग का अधिकारी है। श्रद्धा माता के समान योगी का हित-साधन करके उसकी रक्षा करती है। ऐसी श्रद्धा से परिपूर्ण योगियों को सत्यात्य के जानने का वीर्य यानी बल या उत्साह पैदा होता है, क्योंकि उत्साह के अनुसार ही साधना में तत्परता आती है। इसके पश्चात् स्मृति, स्मृति के पश्चात् चित्त की सावधानता तथा सावधानता के पश्चात् सत्यासत्य के निर्णय की प्रज्ञा और प्रज्ञा के पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार पतञ्जलिदेव के सूत्र की भगवान व्यास द्वारा की गई व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा आदि सद्गुणों की प्राप्ति का आधार श्रद्धा ही है। श्रद्धाविहीन व्यक्ति वीर्य, बल, स्मृति किसी भी सद्गुण की प्राप्ति नहीं कर सकता। बिना सद्गुणों के विवेक ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

श्रद्धा और श्रद्धेय का भी अभिन्न सम्बन्ध है। यदि श्रद्धेय के प्रति कामना रहित श्रद्धा मनुष्य के हृदय में होती है तो शनै: शनै: श्रद्धेय के सभी गुण श्रद्धावान में आ जाते हैं। श्रद्धावान का कभी पतन नहीं हुआ करता। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि श्रद्धावान साधक की रक्षा श्रद्धा ही मातृवत् किया करती है। किसी भी दशा में वह उसे संकट-ग्रस्त नहीं होने देती है।

ईश्वर का साक्षात्कार भी श्रद्धावान् को ही होता है। हमारे देश के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें श्रद्धा के बल से ही साधकों ने अलौकिक ऐश्वर्य और असाधारण क्षमता प्राप्त की है। भगवान के प्रति अटूट श्रद्धा रखने के कारण ही उन्होंने द्रौपदी की उस समय रक्षा करके अपना करुणाकर बढ़ाया, जबकि कुरु सभा में उसे बलात् वस्त्र-विहीन करने की चेष्टा की जा रही थी।

महाभारत के युद्ध में अर्जुन और उसके भाइयों को विजय श्री तभी प्राप्त हुई जबकि अर्जुन ने श्रद्धापूर्ण हृदय से— "**करिष्ये वचनम् तव**" कहकर विनीत भाव से अपना समर्पण कर दिया। गुरु द्रोणाचार्य ने एकलव्य को बाण चलाने की दीक्षा देने से इन्कार कर दिया था लेकिन एकलव्य के हृदय में द्रोणाचार्य के प्रति अभूतपूर्व निष्ठा और श्रद्धा थी। उसी श्रद्धा और निष्ठा के बल पर आचार्य के इन्कार कर देने पर भी उसने उनकी मिट्टी की प्रतिमा बनाकर जंगल में बाण चलाने का अभ्यास आरम्भ कर दिया। इस निरन्तर अभ्यास और अपने हृदय की श्रद्धा के बल पर बाण चलाने की विद्या में वह इतना निपुण हो गया कि अर्जुन भी इस विद्या में निषाद बालक की समता नहीं कर सकता था। यद्यपि गुरु द्रोणाचार्य अर्जुन को स्वयं अपने मुखारविन्द से धनुर्विद्या की शिक्षा दिया करते थे, जबकि एकलव्य ने यह शिक्षा आचार्य की प्रतिमा मात्र बनाकर अपनी श्रद्धा के बल से प्राप्त की थी। इससे भी बढ़ कर अपने गुरु के प्रति श्रद्धा का अपूर्व उदाहरण एकलव्य के जीवन से हमें उस समय मिलता है जबकि गुरु द्वारा गुरू दक्षिणा के रूप में सीधे हाथ का अँगूठा मांगने पर तत्काल उसने काट कर अपने गुरु को समर्पित कर दिया। ऐसा होता है श्रद्धावान् और श्रद्धेय का सम्बन्ध।

हमारे देश में पूज्यों और गुरुजनों के प्रति जन साधारण में श्रद्धा का ऐसा भाव जब तक उदय न होगा तब तक सुख और शान्ति की स्थापना का स्वप्न साकार नहीं हो सकता। हम न केवल योग-पथ के साधकों को बल्कि प्रत्येक उस व्यक्ति को जो अपने लौकिक और परलौकिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ने की इच्छा रखते हैं, यह परामर्श देना आवश्यक समझते हैं कि इस पथ पर चलने के लिए श्रद्धा ही उनका सबसे बड़ा सम्बल हो सकता है। ईश्वर और सद्गुरुओं के प्रति यदि वे श्रद्धावान रहेंगे तो दूसरे अनेक सद्गुण जो जीवन को उज्ज्वल बनाते हैं उनमें स्वत: ही समा सकेंगे।

ईश्वर-प्रणिधान

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग मार्ग के साधकों के लिए 'योग-दर्शन' के प्रणेता भगवान पतञ्जलि देव ने समाधि-सिद्ध के हेतु जहां अन्य अनेक साधनों का वर्णन किया है वहां समाधि पाद के 23 वें सूत्र में ईश्वर-प्रणिधान का भी स्पष्टता से उल्लेख किया है। बीसवें सूत्र में जहाँ श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, आदि का आवलम्बन समाधि का हेतु बताते हुए इनका परिपालन आवश्यक बतलाया है वहां तेईसवें सूत्र में 'ईश्वर प्रणिधान द्वा' कहकर उन्होंने साधक को निर्देश दिया है कि ईश्वर जो सर्व समर्थ है और जिसे श्रुतियों ने 'पुरुष विशेष' कहकर भी पुकारा है तथा जो क्लेश, कर्म, विपाक, और आशय इन चारों से परे है उसकी शरण में जाना ही फलदायक है। सूत्र का अभिमत यही है कि ईश्वर की भक्ति से अथवा सर्वथा भावेन उसकी शरण में जाने से भी समाधि सिद्ध होती है।

योगदर्शन के इसी 23 वें सूत्र :-

ईश्वर प्रणिधानाद्वा

की व्याख्या करते हुए प्रात:स्मरणीय।

भगवान व्यासदेव कहते हैं :-

'प्रणिधानाद्भक्ति विशेषादावर्जित ईश्वरस्त-मनु-गृहणात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतम-स्समाधि लाभ:।'

अर्थात् 'भक्ति विशेष से जाना गया ईश्वर उस ध्यान करने वाले योगी पर अनुग्रह करता है और उसे समाधि लाभ होता है।' भक्ति विशेष का अर्थ यहां निरन्तर प्रभु का चिंतन लिया गया है ऐसी ही शक्ति कों जिसमें अपना मन, बुद्धि और सर्वस्व ईश्वरार्पित कर दिया जाता है, मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर, वाली भावना जब साधक के हृदय में भर जाती है तब इसी अवस्था को ईश्वर-प्रणिधान वाली अवस्था कहा जाता है। ऐसी अवस्था तभी उत्पन्न होती है जब साधक अहंभाव का त्याग कर अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया और उसके फल को ईश्वर के चरणों में श्रद्धापूर्वक समर्पित कर देता है। इस प्रणिधान के व्रत को आचरण में तभी ढाला जा सकता है जब साधक अभिमान अहंकार और अस्मिता को त्याग कर **'वासुदेव: सर्वे'** की भावना से ओत-प्रोत हो जाता है। ऐसा साधक अपने को सब में और सबको अपने में प्रतिक्षण देखने की चेष्टा करता रहता है। उसका जीवन-मन्त्र होता है- **'आत्मवत् सर्व भूतेषु'** और इसी **'आत्मवत् सर्व भूतेषु'** के अपने जीवन-मन्त्र में वह अपने सर्वेश्वर के जिसे भगवान पतञ्जलि देव ने—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

के रूप में परिभाषित किया है साक्षात् दर्शन करता है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी में उसे अपने भगवान के दर्शन होते हैं।

'ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां-जगत' वेद भगवान की यह सूक्ति उसकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होती। इसी दृष्टि से वह भगवान के विश्व रूपका दर्शन करने में सर्वत्र सर्वकाल में सक्षम् होता है, और ऐसी दृष्टि अपना लेने पर ही उसकी हृदय तन्त्री से हर समय यह झनकार निकलने लगती है कि :-

हर शै में तू है, हर गुल में तू है

जिधर देखता हूँ, उधर तूही तू है।

हिन्दी के एक भक्त कवि ने भी ऐसी ही अवस्था के लिए कहा है 'जित देखों तित श्याममयी है।' इस प्रकार भेद में अभेद वाली दृष्टि ही ईश्वर-प्रणिधान की परिभाषा है- यही दृष्टि साधक को विवश करती है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण

आदि सब करणों, उनसे होने वाले सारे कर्मों और उनके फलों को अर्थात् अपनी सारी बाह्य और आभ्यान्तर जीवन क्रियाओं को तू उस ईश्वर को समर्पण कर दे जो सर्वज्ञता है, सम्पूर्ण है। योग योगेश्वर गुणवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने भी श्री भद्भगवद्गीता के 9 वें अध्याय में आत्म-समर्पण की व्याख्या में यही तो कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि।

यज्जुहोषि ददासियत्।।

यत्तपस्यसि कौन्ते।

तत्कुरुष्य मदर्पणम्।।

अर्थात् तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो तप करता है वह सब मुझ ईश्वर को अर्पण कर दे। क्योंकि ऐसा करने से शुभ और अशुभ कर्मों के बन्धनों से तू मुक्त हो जायेगा और तू मुझ को ही प्राप्त होगा। ईश्वर को ही प्राप्त हो जाने का ही अर्थ है, समाधि-सिद्ध हो जाना।

इसलिए भगवान पतञ्जलि देव ने अन्य अनेक उपायों का समाधि सिद्ध के लिए अवलम्बन लेने का जहां जिक्र किया है वहां इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ईश्वर प्रणिधानाद्वा— सूत्र की रचना भी कर दी।

अत: योग मार्ग के साधकों को जो शीघ्र समाधि लाभ लेने की इच्छा रखते हैं ईश्वर को सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी मानकर उसकी आराधना करते हुए अपना आत्मसमर्पण सर्वथा सर्वविधि उसको ही कर देने का दृढ़ संकल्प लेना चाहिए।

इतिहास में एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण हमें मिलते हैं कि जिन्होंने शुद्ध हृदय से अपने को भगवान को अर्पण कर दिया है उन्होंने भगवान का साक्षात्कार इसी जीवन में कर लिया। इसीलिए तो श्री मद्भगवद्गीता में कहा गया है :-

मन्मना भव मद्भक्तो,

मद्याजी मा नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैव—

मात्मानं मत्परायण:।

अर्थात् मुझमें लगा, मेरा भक्त बन मेरे निमित्त भजन, मुझे नमस्कार कर इस तरह मुझमें अतिशय होकर मेरे साथ आत्मा का योग करने से तू मुझे प्राप्त कर लेगा। अर्थात् मुक्त हो जायेगा।

यही समाधि-सुख है जिसे ईश्वर प्रणिधान द्वारा प्राप्त करने का परामर्श भगवान पतंजलि देव ने अपने उक्तसूत्र द्वारा दिया है।



गुरु पूर्णिमा का महत्व

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

भारत में— आषाढ़ सुदी पूर्णिमा सर्वत्र ही गुरु पूर्णिमा के रूप में मनायी जाती है। इसी गुरु पूर्णिमा को व्यास पूर्णिमा के नाम से भी पुकारा जाता है। हम अपने पिछले किसी लेख में 'गुरु' शब्द की व्याख्या करके यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अन्धकार का नाश कर देना ही गुरु शब्द का अर्थ है। 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार ही जगत में उन पूजनीय विभूतियों को गुरु या सद्गुरु के नाम से सम्बोधित किया जाता है, जिनके वचनों, आचरणों और इंगितों से मनुष्य अज्ञान, अन्धकार की परिधि से निकलकर ज्ञान के उस ज्योतिष्मान आँगन में आ पहुँचता है, जहाँ से उसे अपने जीवन-लक्ष्य की उपलब्धि का मार्ग स्पष्टरूपेण न केवल दिखाई देने लगता है, अपितु वह उसे पा लेने में भी समर्थ हो जाता है। सृष्टि के रचयिता परमब्रह्म परमात्मा को भी आदि गुरु की संज्ञा इसीलिए दी गई है कि उसका समूचा सृष्टि सौन्दर्य उसकी वाणी, वेद, उसका निश-दिन का चिन्तन-मनन और स्मरण हमें जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की, समाधि सुख की और अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति करा देता है। वह ज्ञान और आनन्द रूप ही है, इसलिए उसके स्मरण, मनन और चिन्तन में यदि हम संलग्न रहेंगे तो न अज्ञान रहेगा न दु:ख और क्लेश, इसीलिये योग-दर्शन के प्रणेता प्रात: स्मरणीय भगवान पतंजलि देव ने समाधि-पाद के छब्बीसवें सूत्र में ईश्वर की विशेषता बतलाते हुए कहा है कि—

पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्।

यानी वह (ईश्वर) पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकों का भी उपदेष्टा या गुरु है तथा वह काल से परिच्छिन्न नहीं है, अर्थात् वह गुरु ऐसा नहीं है जो किसी काल में हो और किसी काल में न हो, वह सदैव से है और सदैव रहेगा। अत: इस आदि गुरु-सत्ता को हमें कभी विस्मरण नहीं करना चाहिए। यह गुरु सत्ता सर्वव्यापी होने से हम सबके हृदय में भी मौजूद है, अत: हमें क्षण-क्षण उसका ध्यान, तप, जप आदि इसीलिए करते रहना चाहिए कि वह हमारा सच्चा पथ-प्रदर्शक है। इस प्रभु-सत्ता की ओर बढ़ने की, उसके अनिर्वचनीय आनन्द सागर में डूब जाने की प्रेरणा जो आचार्य, ऋषि, महर्षि हमें अपने वाक्यों और आचरणों द्वारा देते रहे हैं वे सभी हमारी सद्गुरु शृंखला में आते हैं। भगवान् व्यास देव ने भी प्रभु की अगाध ज्ञानराशि को अपनी लेखनी की अपरिमित शक्ति से विविध ग्रन्थों के रूप में सर्वधारण के लिए बोधगम्य बनाने का जो सद्-प्रयास किया है, उसके लिए कलिकाल की समग्र मानव-पीढ़ी उनकी ऋणी रहेगी। श्रीमद्भागवत, गीता, महाभारत, पुराण आदि अनेक ग्रन्थों की रचना करके उन्होंने भागवत ज्ञान को जिस सरलता से प्रस्तुत कर मानव-जीवन को सुसंस्कृत बनाने की जो प्रेरणा दी वह अभूतपूर्व है। यदि वे ऐसा न करते तो वैदिक सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा होना ही कठिन होता इसीलिए भगवान् व्यास देव को श्रद्धा से स्मरण करने के लिए उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए हमारे मनीषी-पूर्वजों ने गुरु पूर्णिमा को 'व्यास पूर्णिमा' के नाम से भी प्रसिद्ध कर दिया। भगवान् पतंजलि देव के योग सूत्रों पर भी व्यास जी ने अपनी व्याख्या करके उन्हें और अधिक सुलभ तथा सुबोध बनाने का सद्-प्रयास किया है। गुरु पूर्णिमा का पावन पर्व ऐसे ही सब विश्व विश्रुत ऋषियों, मनीषियों और सद्गुरुओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का पर्व है जो सुसंस्कृत समाज में सर्वत्र अतीव आदर और श्रद्धा के साथ मनाया जाता है। वेदों, उपनिषदों और दर्शनों में ही नहीं किन्तु भारतीय संस्कृति के समूचे इतिहास में आचार्य और गुरु की महत्ता तथा अनिवार्य आवश्यकता को एक स्वर से स्वीकार किया गया है। जिन महाभागों को आज का संसार अपना आदर्श मान कर चलता है और जिन्हें युगावतर कहकर पुकारा जाता है उनके जीवन को उज्ज्वलतम् बनाने का श्रेय भी उनके सद्गुरुओं को ही है।

मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का निर्माण बिना सद्गुरु कृपा के ही हो नहीं सकता। इसीलिए वेद ने मनुष्य मात्र को पुकार कर कहा–

आचार्योवान् भव।

अर्थात्— हे मनुष्य! तू आचार्यवान् बन। क्योंकि आचार्यवान बनकर ही मनुष्य धर्म करे और उस धर्म के रहस्य को जान सकेगा जिसके द्वारा अभ्युदय और नि:श्रेयश की प्राप्ति सुलभ होती है। आचार्य और सद्गुरु का अर्थ ही यह है कि अपने अनुगामियों को सदाचरण की शिक्षा देकर उन्हें स्वर्ग और अपवर्ग दोनों की प्राप्ति करा दे। योग मार्ग के अनुगामियों को तो सुयोग्य आचार्यों और सद्गुरुओं के सान्निध्य में जाना अत्यन्त ही आवश्यक है क्योंकि सद्गुरु का मार्ग दर्शन ही उन्हें लक्ष्य तक पहुँचा देने में समर्थ होता है। गुरु शरणागति साधक को स्वस्थ और सबल बनाकर आध्यात्मिक उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा देती है। और उन्नति की ऊँची से ऊँची चोटी पर पहुँच कर फिर साधक को गिरने और फिसलने का कोई खतरा नहीं रहता, इसीलिए तो गुरु की, गुरु पूजन की और गुरु की शरण में जाने की अपना महत्ता है। गुरु पूर्णिमा का पर्व सद्गुरु पूजन की परम्परा को कायम रखने के लिए ही प्रति वर्ष मनाया जाता है। गुरु पूजन की यह परम्परा और परिपाटी सदा ही कायम रहे यही हमारी अभिलाषा है और यही आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यता है। समाज में व्यापक पैमाने पर जो उदण्डता और अनुशासन हीनता आज दृष्टिगत होती है और जिसके पुनर्स्थापन के लिए देश के प्रशासन को भी प्रयास करना पड़ रहा है उसका कारण यही है कि गुरुजनों के चरणों में बैठकर, उनके आश्रम में रहकर जीवन निर्माण की कला सीखने की परिपाटी का परित्याग कर दिया गया। गुरु पूर्णिमा का पर्व हमें गुरु सेवा की उनके समीप रहकर उनसे ज्ञानार्जन करने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए ही आया करता है। इससे प्रेरणा ग्रहण करना हम सब का परम पावन कर्त्तव्य है।

इस अति पुनीत अवसर पर भगवान सदा शिव की योगपरम्परा को आधुनिक काल में सर्व साधारण के लिए सुलभ करने की अमोघ कृपा हमारे जिन प्रात: स्मरणीय महा प्रभु जी ने करके संसार को उपकृत किया है उनको भी श्रद्धा सहित नमन और स्मरण करना हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं। 'श्री सिद्ध गुफा सवाँई' की ओर से योग प्रचार का जो व्यापक प्रचार और प्रयास किया जाता है वह उन करुणा सागर की महा शक्ति का ही परिणाम है।

तीन अवस्थायें

एक मनुष्य का एक मकान है, उसमें आगे एक खुला दालान है, दालान के बीच एक कोठरी में अनेक प्रकार की वस्तुऐं रखी हैं, कोठरी के अन्त भाग में एक अँधेरे वाला तहखाना है। जब मकान का मालिक बाहर के दालान में बैठता है तब उसकी दृष्टि बाहर रास्ते के ऊपर पड़ती है, जब वह भीतर की कोठरी में होता है तब वहां की वस्तुऐं देखता है और वह तहखाने में जाता है तब वहाँ अँधेरा होने से वह अपने को और किसी पदार्थ को नहीं देख सकता। मकान शरीर है, मालिक जीव है बाहर का दालान, जीव के बैठने का स्थान जाग्रत अवस्था है, मध्य की कोठरी में जीव का जाना स्वप्नावस्था है, और तहखाने में जीव का जाना सुषुप्त अवस्था है।

योगी की महाविदेहा धारणा एवं प्रकाशावरणक्षयः

विशेष लेख :– श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

इससे पूर्व 'सिद्धयोग' के कितने ही अंकों में हमने योगदर्शन के विभूति–पाद की विभूतियों का समझा–समझा कर वर्णन करने का प्रयत्न किया है। मेरे मन में प्रतिक्षण भावना रहती है कि हर व्यक्ति पवित्रतम् योगमार्ग का अनुयायी हो जाये। जब तक मनुष्य अपने मन को संयमित करना नहीं जान जाता तब तक वह अन्तर्जगत में प्रवेश नहीं कर पाता। साधक धारणा, ध्यान एवं समाधि के द्वारा अपने मन पर नियन्त्रण करके ही इस अन्तर्विद्या का ज्ञाता हो सकता है। याद रखना चाहिए कि जो धैर्य एवं दृढ़ता के साथ पूर्ण श्रद्धापूर्वक अपने अभ्यास में लगे रहते हैं वे लोग अपने परम लक्ष्य को अवश्य–अवश्य प्राप्त कर लेते हैं। दृढ़ता इतनी अधिक होनी चाहिए कि योगी अपने मन में धारणा कर ले कि 'देहं वा पातेयम् कार्यं वा साधेयम्' अर्थात् कदम आगे बढ़ाकर पीछे न लौटायें, कितनी ही कठिनाइयां आयें विघ्न, बाधायें उपस्थित हों किन्तु उनका मन विचलित न हो, वे अपने अभ्यास से पीछे न हटें।

'योगदर्शन' के विभूतिपाद के तेतालीसवें सूत्र में भगवान् पतंजलिदेव ने महाविदेहा धारण वर्णन किया है, इस धारणा के बल से योगी के प्रकाशावरणक्षय का वर्णन किया है, सूत्र इस प्रकार है—

वाहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशा–वरणक्षयः।

अर्थात् शरीर के बाहर बिना किसी कल्पना के जो वृत्ति कायम की जाती है वह महाविदेहा कहलाती है। उसमें संयम के बल से जब योगी जय प्राप्त कर लेता है तो उसका निश्चय ही प्रकाशावरणक्षय हो जाता है—

महामुनि श्री व्यासदेव जी का भाष्य–

शरीराद्बहिर्मनसो वृत्तिलाभो विदेहा नाम धारणा। सा यदि शरीर प्रतिष्ठस्य मनसो वहिर्वृत्तिमात्रेण भवति सा कल्पितेत्युच्यते। या तु शरीर निरपेक्षया बहि–भूतस्यैव मनसो वहिर्वृत्ति सा खल्वकल्पिता, तत्र कल्पितय साधयन्त्यकल्पितां महाविदेहामिति मयया पर शरीराण्या विशन्ति योगिनः ततष्च धारणातः प्रकाशा–त्मनो बुद्धिसत्वस्य यदावरणं क्लेश कर्म विपाक त्रयं रजसस्तमोमूलं तस्य च क्षयो भवति।

अर्थात् शरीर के बाहर बिना किसी साधना के आत्मज्ञान सम्बन्धी वृत्ति का नाम महाविदेहा है— यदि हमारी वह वृत्ति मन के शरीर सम्बन्ध में रहते हुए बहिर्वृत्तिमात्र होती है तो वह कल्पिता कहलाती है। इसके अतिरिक्त यदि वह हमारी वृत्ति इतने ऊँचे अभ्यास में पहुँच गई है कि उसे कल्पना की आवश्यकता हीं नहीं रहती—शरीर को अपेक्षा रहित है वह अकल्पिता कहलाती है यह वृत्ति कल्पिता द्वारा साधी जाती है तभी अकल्पिता बन पाती है तभी यह महाविदेहा कहलाती है। इसी वृत्ति के प्रभाव से योगी पुरुष दूसरे के शरीर में प्रवेश करते हैं। इस धारणा को दृढ़ करने से योगी की प्रकाशात्मिक सात्विक बुद्धि का आवरण नष्ट हो जाता है अर्थात् जो आवरण क्लेश, कर्म, विपाक, रूप, रज, तम रूप मूल वाले अन्धकारमय हैं उनका क्षय हो जाता है।

महाविदेहा धारणा से योगी शरीर की सीमा से बाहर होकर प्रकाशमय शुद्ध सत्व में अपने व्यापक सत्ता में अपने आप में लीन देखता है तब उसके ज्ञान में कोई अन्तराय नहीं रहती– ऐसी स्थिति में योगी को अनेकानेक सिद्धियाँ स्वतः ही होने लगती है।

प्रभु की ओर : ज्ञान–शक्ति और क्रिया–शक्ति स्वयं साधक में विद्यमान हैं। उनकी ओर दृष्टि करा देने वाले को गुरु, शास्त्र, महात्मा और भगवान् कहते हैं। इनमें सबसे मुख्य भगवान् हैं। वे सदा सबके हृदय में विराजमान हैं। जिसकी सच्ची लगन होगी, उसे वे हृदय–स्थित प्रभु संकेत देंगे, किसी गुरु या महात्मा से मिला देंगे, कोई ऐसी घटना घटा देंगे, जिसके कारण वह सत्य की ओर चल पड़ेगा, कोई परिस्थिति ऐसी आ जायेगी, जिससे वह सत्य पथ पर चले बिना रह नहीं सकेगा। यह सब काम प्रभु का है। जीव का तो केवल इतना दृढ़ विचार होना चाहिए कि मुझे प्रभु की ओर ही चलना है।

— अज्ञात

ब्रह्मचर्य व्रत

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए जिन महाव्रतों के अनुष्ठान की आवश्यकता है उनमें ब्रह्मचर्य व्रत परम आवश्यक व्रत है। योग साधना में तो यह व्रत वह प्राथमिक सीढ़ी है जिस पर चढ़कर ही साधक अनिर्वचनीय समाधि सुख के मन्दिर तक पहुँचने में समर्थ हो सकेगा। बिना ब्रह्मचर्य के साधक की देव दुर्लभ देह, जो उसे पूर्व जन्मों के अर्जित पुण्य कर्मों के फलरूप में प्राप्त हुई है सदैव रोगी, बल तथा तेज ओज से हीन रहने पर योग की किसी साधना में दृढ़ता से लगने के लिए प्रेरित नहीं होगी। रोगी और बलहीन मनुष्य का मन कभी स्थिर नहीं रह सकता और मन की स्थिरता के अभाव में योग की वर्णमाला का शुभारम्भ ही नहीं किया जा सकता। इसीलिये तो योग की दैनिक प्रक्रिया में आसनों का अपना विशेष महत्व है। विविध प्रकार के आसनों का उद्देश्य भी यही होता है कि साधक इन्हें नियमित रूप से करके अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर सके और स्वस्थ रहकर योग-साधना के मन्दिर की ओर निर्बाध रूप से बढ़ता चला चले। ब्रह्मचर्य की महिमा भी इसीलिये है कि इससे हमें वह शक्ति और बल प्राप्त होता है, जिससे हम मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। वेद भगवान् भी तो पुकार कर कहते हैं—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवं मृत्युमुपाघ्नत,
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत।
— अथर्व

अर्थात् ब्रह्मचर्य रूप तप से देवताओं ने काल को भी जीत लिया है। इन्द्र निश्चय से ब्रह्मचर्य द्वारा देवताओं में श्रेष्ठ बना है।

ऋषियों ने अपने अनुभूत प्रयोगों के आधार पर तपों में उत्तम तप ब्रह्मचर्य को ही बताकर उसके पालन का परामर्श दिया है और कहा है कि जो ऊर्ध्व रेता हो जाते हैं वे मनुष्य रूप में होते हुए भी देवताओं की श्रेणी में गिने जाते हैं। यथा–

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्य तपोत्तमम्।
उर्ध्वरिता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः।।

ब्रह्मचर्य का स्पष्ट अर्थ है सम्यक् प्रकारेण वीर्य की रक्षा करना। विषय विकारों में वीर्य को नष्ट न करके जितेन्द्रियता का जीवन व्यतीत करना। दूसरे रूप में इसे यों भी कहा जा सकता है कि संभोग-वासना को वश में रखना ही ब्रह्मचर्य है। इसी संदर्भ में भगवान शिव का यह वचन भी भूलने योग्य नहीं है—

सिद्धे विन्दो महा यत्नै, किं न सिद्धयति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा, ममाष्येतादृशो भवेत्।।

यानी पुरूषार्थपूर्वक बिन्दु (वीर्य) को सिद्ध करने वाले ब्रह्मचारी के लिए कोई वस्तु अलभ्य या अप्राप्य नहीं रहती। मेरी इतनी महिमा ब्रह्मचर्य के प्रताप से हुई है।'

भारतीय इतिहास में और भी अनगिनत ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिनकी कीर्ति और यश गाथा के पीछे उनका अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत ही रहा है। महावीर हनुमान, भीष्म पितामह ऐसे ही प्रातः वन्दनीय ब्रह्मचर्य व्रतधारी युग पुरुष हुए हैं। आधुनिक काल में स्वामी दयानंद जी का नाम भी इसी शृंखला में लिया जा सकता है। इतना ही नहीं, कुछ और भी यशस्वी महामानव इस भारत भूमि में ऐसे हुए हैं, जो ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में हमारे आदर्श और अनुकरण का विषय हो सकते हैं। योग-दर्शनकार भगवान पतंजलि देव ने इसीलिए ब्रह्मचर्य को योग-मार्गानुयायियों के लिए यमों में सम्मिलित करके एक सूत्रकी रचना कर डाली। यथा—

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्य परिग्रहा यमः।

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य यम: यानी महाव्रत हैं, जिनका अनुष्ठान योग-साधक को आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का एक अर्थ जहां वीर्य का संग्रह और उसका पतन न करना है, वहां दूसरा अर्थ ब्रह्मनिष्ठ होना भी है। योगियों का कहना है कि ब्रह्मचारी अपने प्राणों पर पूरा-पूरा नियन्त्रण करने में तभी समर्थ हो सकता है जब वह पूर्णतया ब्रह्मनिष्ठ हो। ब्रह्मनिष्ठ अथवा ब्रह्ममय होकर ही रहना वास्तविक ब्रह्मचर्य है। यदि ब्रह्मनिष्ठा का अभाव जीवन में रहेगा तो वीर्य का वेग योग-साधक को कामुकता अथवा सांसारिक विषय-वासना की ओर बहा ले जायेगा। अत: ब्रह्मचारी के लिए वीर्य रक्षा के साथ-साथ ब्रह्मनिष्ठ होना भी अनिवार्य-सा कर्त्तव्य है।

ब्रह्मचर्याश्रम की गणना प्रथम आश्रम के रूप में की जाती है, अन्य तीन आश्रम इस आश्रम के पश्चात् आने वाले आश्रम हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम का विशिष्ट महत्व इसीलिये है कि इसमें रहकर बल, वीर्य और विद्या के संग्रह तथा संरक्षण का पर्याप्त समय प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ रहता है। इस तरह यह आश्रम व्यक्ति के जीवन-मन्दिर की आधारशिला भी कहकर पुकारा जाता है। जो कुछ विद्या, बल और वीर्य इस आश्रम में एक निश्चित अवधि तक रहकर प्राप्त कर लिया जाता है वही अन्य आश्रमों में सुख-समृद्धि और यश-कीर्ति के उपार्जन का कारण बनता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह पुरुष हो या स्त्री और चाहे वह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी या सन्यासी हो, ब्रह्मचर्य व्रत का धारण और उसकी विधाओं का पालन अवश्य करना चाहिए।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है योगमार्ग पर आरूढ़ होने वालों के लिए तो ब्रह्मचर्य का व्रत और भी अधिक आवश्यक है। जितेन्द्रयता और संयम का जीवन ही योगी को सफलता के लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ हो सकता है बिना ब्रह्मचर्य-व्रत के योग-ऐश्वर्यों को प्राप्त करना आकाश कुसुम तोड़ने जैसा निरर्थक प्रयास ही रहेगा।

भूतजय की साधना

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने 'सिद्धयोग' के पिछले अंकों में संयम के आधार पर होने वाले विविध फलों का वर्णन किया है। योगी का संयम ही सकल सफलताओं का दाता है। यह भी हम पहले कई बार बतला चुके हैं कि योगी की धारणा, ध्यान, समाधि ही संयम की आधार भित्ति है। जो मनुष्य धारणा, ध्यान, समाधि को क्रमश: बढ़ाता रहता है और उनमें दृढ़ भूमि हो जाता है, सफलता उसके सामने मूर्तिमान हो करके उपस्थित हो जाया करती है। भूतजय की साधना, एक अमर साधना है। जो योगी भूतजयी हो जाता है उसका प्रकृति पर पूर्णाधिकार हो जाता है और वह कभी भी गुण धर्मों से विचलित नहीं हो सकता। भगवान् पतञ्जलिदेव ने भूतजय की साधना को दर्शाते हुए निम्नांकित सूत्र का उल्लेख किया है—

स्थूल स्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थ-
वत्त्वसंयमाद् भूतजय:।।
(वि.पा., 44, यो. द.)

अर्थात् पंचमहाभूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म एवं अर्थवत्व में संयम करने से योगी पंचमहाभूतों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए— पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के शास्त्र वर्णित पाँच-पाँच रूप हैं, अर्थात् पृथ्वी के पाँच, जल के पाँच, अग्नि के पाँच एवं आकाश के पाँच। इस प्रकार ये पंच महाभूत पाँच-पाँच विभागों से 25 आकार वाले हो गये। भूतो के इन पाँच-पाँच आकारों को इस प्रकार से समझ लेना चाहिए :—

प्रथम - पृथ्वी का स्थूल आकार पृथ्वी।
द्वितीय - जल का स्थूल आकार जल।
तृतीय - अग्नि का स्थूल आकार अग्नि।
चतुर्थ - वायु का स्थूल आकार वायु।
पंचम - आकाश का स्थूल आकार आकाश।

ये पंच महाभूतों के स्थूलस्वरूप हैं। उसके बाद दूसरा स्वरूप इनका धर्म रूप है, जिनसे ये पहचाने जाते हैं जैसे- पृथ्वी का रूप मूर्ति; जिससे यह पृथ्वी है, इस प्रकार का ज्ञान होता है। जल का स्नेह, अग्नि का उष्णता, वायु का गति व कम्पन, आकाश का पोल-आकाश होना यह इन पाँचों महाभूतों का धर्म रूप स्वरूप है।

तीसरा रूप — गन्ध तन्मात्र, रस तन्मात्र, रूप तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र एवं शब्द तन्मात्र। यह इन पाँच महाभूतों का तन्मात्रा रूप सूक्ष्म रूप है।

चौथा अन्वय रूप — अन्वय रूप का अर्थ है, जो अनुगमन करें। इन पञ्च महाभूतों में सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण— प्रकाश, क्रिया व स्थितिशील होने के नाते से अन्वयी रहते हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पञ्च महाभूत अर्थवत्व के रूप में बदल जाते हैं।

पंचम रूप अर्थवत्त्व— अर्थवत्त्व का अर्थ है— जिस कारण को लेकर ये पाँचों महाभूत अपने-अपने कार्यों में लगे हुए हैं। यह प्रकाश, क्रिया, स्थितिशील पञ्च भूतात्मक, इन्द्रियात्यक जितना भी दृश्य है वह पुरुष के लिए है। पुरुष को भोग व अपवर्ग में प्रेरित करता रहता है। ज्यों-ज्यों योगी पञ्च महाभूतों उपरोक्त पाँच-पाँच रूपों में संयम करता है, त्यों त्यों वह शनै: शनै: भूतजयी हो जाता है फिर पञ्च महाभूतों के कार्यों पर उसका पूरा-पूरा अधिकार हुआ करता है। भूत, पञ्च महाभूत योगी का इस प्रकार से अनुगमन किया करते हैं, जैसे नवप्रसूता गौ अपने बछड़े के पीछे-पीछे घूमती रहा करती है। पढ़िये, इस सूत्र पर व्यास-भाष्य की पंक्तियाँ हैं।

व्यास-भाष्य :-

तत्र पार्थिवाद्या: शब्दादयोविशेषा: सह-कारादि-भिर्धमै: स्थूल शब्देन परिभाषिता:, एतद् भूतानां प्रथमं रूपम्, द्वितीयं रूपं स्वसामान्यम्:

मूर्तिर्भूमिः, स्नेहो जलं, वह्निरुष्णता, वायुः प्रणामी, सर्वतो-गतिराकाश इत्ये-तत्स्वरूपशब्ददेनाच्यते, अस्य सा-मान्यस्य श-ब्दादयो विशेषाः तथा चोक्तम्— ''एक-जाति-समन्वितानामेषां धर्ममात्र-व्यावृत्ति'' इति, सामान्य विशेष समुदायोऽत्र द्रव्यं, द्विष्ठो हिं समूहः प्रत्यस्त-मितभेदा-वयावानुगतः शरीरं वृक्षयोयूथं वनमिति, शब्देनोपात्त भेदावय-वानुगतः समूह उभये देव मनुष्याः, समूहस्य देवा एको भागो मनुष्या द्वितीयो भागस्ता-भ्यामेवामिधीयते समूहः, स च भेदाभेद विवक्षितः, आम्राणां वनं ब्राह्मणानां सङ्घः, आम्रवणं ब्रोह्मणसङ्घः इति, स पुनर्द्विविधो युत-सिद्धावयवोऽयुत सिद्धा-वयवश्च। युत-सिद्धावयवः समूहो वनं सङ्घ इति। अयुत-सिद्धावयवः सङ्घातः शरीरं वृक्षः परमाणुरिति, अयुत-सिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतञ्जलिः एतत्स्वरूपमित्युक्तम्, अथ किमेषां सूक्ष्मरूपं तन्मात्रं भूतकारण, तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्य वि-शेषा-त्मा-ऽयुतसिद्धावयव भेदा-नुगतः समुदाय त्येव। एवं सर्व तन्त्रात्राणिः एतत्तृतीयं, अथ भूतानां चतुर्थं रूपं---ख्याति क्रिया स्थितिशीला गुणाः कार्यस्वभावा-नुपातिनोऽन्वय-शब्देनोक्ताः। अथैषां पंचमं रूपमर्थ-वत्वं भुोगापवर्गार्थता गुणेष्वा-न्वयिनी गुणास्तन्मात्र-भूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत्, तेष्विदानीम्भूतेषु पञ्चसु पञ्च रूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूप दर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति, तत्र पञ्चभूत-स्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति, तज्ज-याद् वत्सा-नुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानु-विद्यायिन्यो भूत प्रकृतयो भवति।

यहाँ पर पृथ्वी आदि नाम रूप शब्दादिकों के विशेष हैं। समान आकार और धर्म वाले होने से स्थूल कहे गये हैं। यही पृथ्वी आदि महाभूतों का प्रथम रूप है।

दूसरा रूप उनका सामान्य जैसे भूमि का मूर्ति, जल का स्वरूप चिकनापन और अग्नि का स्वरूप दहनशीलता और वायु का रूप बहना और आकाश का रूप सर्वत्र व्यापकता। ये सब इनके स्वरूप से कहे गये हैं। इन सब सामान्यों के शब्दादि विशेष हैं। यह सब सामूहिक जाति की एकता होने पर भी धर्म से पृथकता रखते हैं यहाँ पर सामान्य और विशेष समूहों को द्रव्य मानना चाहिए, क्योंकि समूह दो भेद वाले होते हैं। एक वे जिनमें इनके भीतरी भाव छिपे रहते हैं, जैसे शरीर वृक्ष— शरीर रूपी वृक्ष, यूथ वन, देव मनुष्य; ये सब शब्द के अन्तर्गत एक दिखलाई देते हैं, किन्तु समूह के अन्तर्गत देव एक भाग है और मनुष्य दूसरा भाग है। किन्तु समूह रूप में एक कहे गये हैं। उदाहरण देकर बतलाते हैं। जैसे— आम्राणां वनं—आमों का वन-ब्राह्मणों का संघ। इनके दो भेद होते हुए भी समास में एक शब्द से कहे गये हैं। इनको पुनः दो प्रकार से कहा गया है— एक वह, जिसके अवयव सिद्ध हैं। दूसरा वह, जिसके अवयव सिद्ध नहीं हैं। वन और सभा का यह रूप युतसिद्धावयव कहलाता है। इसी में संघात, शरीर, वृक्ष, परमाणु, अयुतसिद्धावयव हैं। अयुतसिद्धावयव और भेद वाले द्रव्य हैं। इस बात को श्री पतंजलि जी मानते हैं। इनका सूक्ष्म रूप क्या है? वह तन्मात्रादि ऊपर की पंक्तियों में बता चुके हैं।

इसी प्रकार इसका चतुर्थ रूप अन्वय है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि सत्व, रज और तम—प्रकाश, क्रिया, स्थितिशील होने से रूपों के अनुगत रहते हैं। कोई पंच महाभूत प्रकाश स्थिति क्रियाशीलता के बिना ठीक-ठीक कार्यान्वित नहीं होते। यही उनका अन्वय रूप है एवं पंच महाभूतों का अर्थवत्व पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए हुआ करता है। योगी जब अपने संयम के बल से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को संयम का विषय बनायेगा, तो योगी के सामने महाभूतों का सामान्य रूप, मूर्ति आदि विशेष रूप, गन्ध तन्मात्र, रस तन्मात्र आदि सूक्ष्म रूप सत्व, रज, तम आदि के अनुगत होने से अन्वय रूप और पुरुष के भोग और अपवर्ग के दाता होने से अर्थवत्व रूप क्रमशः प्रकट होता रहता है। योगी ज्यों-ज्यों अपने संयम के बल पर भूतजय की साधना में लगता है, तो वह भूतजयी हो जाता है और पंच महाभूतों के जितने भी कार्य हैं उन पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त कर लेता है। पंच महाभूतों पर जय प्राप्त कर लेने पर योगी को क्या-क्या सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं इसको हम आगे के लेख में समझाने का प्रयत्न करेंगे।

योगी को अणिमादिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति एवं पूर्णवशित्व

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

अपने पिछले लेख में हमने भूतजय की साधना का वर्णन किया था। एक-एक भूत के पाँच-पाँच रूप बतला कर योगी उन पर किस प्रकार जय प्राप्त करता है, यह सब हम विस्तार से समझा चुके हैं। भूतजय की साधना करने वाला योगी प्रकृति के प्रत्येक विश्लेषण पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी का परिणाम होता है कि भूत-जय प्राप्त कर लेने के बाद योगी को अणिमा-महिमा प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशत्व-वशित्व एवं यत्रकामावशायित्व आदि-आदि ऐश्वर्य उसको स्वत: ही प्राप्त हो जाते हैं। पढ़िये, भगवान पतंजलि देव का आदेश :-

ततोऽणिमादिप्रादुर्भाव: कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।

इसके साथ ही पढ़िये इस सूत्र पर व्यास भाष्य :-

तत्राणिमा भवत्यणु:। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान् भवति। प्राप्तिरङ् गुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यमिच्छानभिघात:। भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथो-दके। वशित्वं भूतभौतिकं वशो भवत्यवश्यश्चान्येषाम्। ईशित्वं तेषां प्रभवाप्यय-व्यूहानाभीष्टे यत्र कामावशायित्वं सत्यसंकल्पता यथा संकल्पस्तथा: भूतप्रकृतीनामवस्थानम्। न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति कस्मात् अन्यस्य यत्र कामाव-सायिन पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु सं-कल्पादिति। एतान्य-ष्टावैश्वर्याणि। कार्यसम्पद्ध-क्ष्यमाणा। तद्धमनिर्भि-घातश्च पृथ्वी मूर्त्या न निरुणद्धि योगिन: शरीरादिक्रियां शिलामप्य-नुविशतीति नाप: स्निग्धा: क्लेदयन्ति नाग्नि रुष्णो दहति न वायु: प्रणामी वहति अनावर-णात्मके-ऽप्याकाशे भवत्यावृतकाय: सिद्धानामप्य दृश्यो भवति।

अणिमा—

अणिमा सिद्धि का अर्थ है- योगी का अणु जैसा बन जाना। अर्थात् स्थूलकाय योगी, भूतजय संयम के फलस्वरूप अपने आपको अणु के रूप में परिवर्तित कर लेता है, इसी का नाम अणिमा सिद्धि है।

लघिमा—

लघिमा सिद्धि का अर्थ है स्थूलकाय से योगी अपने आपको हल्के से हल्का बना ले। जिस प्रकार से ब्रज में तृणावर्त राक्षस के आने पर भगवान श्रीकृष्ण ने अपने आपको इतना हल्का बना दिया कि तृणावर्त राक्षस उनको रुई के मानिन्द उड़ाकर आकाश में ले गया और आकाश में ही उनके द्वन्द्व-युद्ध के आघात से मर कर जमीन पर गिर पड़ा। श्री बालकृष्ण उसकी छाती पर आनन्द से खेल रहे थे। यह सब उनकी स्वत: सिद्ध लघिमा सिद्धि का प्रभाव था।

महिमा—

महिमा-सिद्धि का अर्थ है योगी का अपने आप को महान से महान बना लेना है। देखने वाले देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि इनका यह महान रूप कैसे और कहाँ से हुआ। इस विषय में भी भगवान श्रीकृष्ण का अर्जुन को अपना महान विश्वरूप दिखलाना एक उत्कृष्ट उदाहरण है, जिसको देखकर अर्जुन जैसा वीर भी भयभीत हो गया था और उसके हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक कहा था—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशोद्रवन्ति,
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घा:।।

अर्थात् हे प्रभो! यह उचित है कि तुम्हारी कीर्ति को सुन करके जंगल हर्षित होता है और दिग्पाल लोग डरे हुए दिशा-प्रदिशाओं को दौड़ रहे हैं। सभी सिद्ध लोग आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह था उनकी महान महिमा का प्रभाव।

प्राप्ति—

प्राप्ति-सिद्धि का अर्थ है— योगी अपनी इच्छापूर्वक चन्द्रमा को भी स्पर्श करने की ताकत रखता है।

प्रकाम्य—

प्राकाम्य सिद्धिका अर्थ है— इच्छानभिघात अर्थात् योगी जैसा संकल्प करे वैसा ही हो जाये, इसी का नाम इच्छानभिघात है अर्थात् योगी चाहे जमीन में डूब जाये और जिस प्रकार मनुष्य जल में डूब करके जल में से निकल आया करता है। उसी प्रकार जमीन में से भी निकल आये।

वशीत्व—

वशीत्व सिद्धि- अर्थात् योगी का पंचमहाभूतों में और महाभूतों के कार्यों में पूर्ण अधिकार होना यही वशीत्व सिद्धि कहलाती है। योगी सबको अपने वश में रखता है किन्तु वह स्वयं किसी के वश में नहीं रहता। यही इस सिद्धि का वशीत्व गुण होता है।

ईशित्रीत्व—

ईशित्रीत्व-सिद्धि का अर्थ है- पंच महाभूतों और महाभूतों के कार्यों पर योगी पूर्ण अधिकार होना। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति एवं विनाश की भी ताकत होना ईशित्रीत्व सिद्धि कहलाती है।

यत्र कामावशायित्व—

अर्थात् सत्य संकल्प होना। योगी जो जो भी संकल्प करे उनका पूर्ण होना ही यत्र कामावशायित्व कहलाता है, किन्तु ऐसा हो जाने पर भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के सृष्टि नियम के विरुद्ध योगी कोई संकल्प नहीं करता है। क्योंकि सृष्टि क्रम में पूर्ण सिद्ध ईश्वर संकल्प है। अत: ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध योगी अपना कोई संकल्प नहीं किया करता।

यह योगियों का अष्टविध ऐश्वर्य है जिसको प्राप्त करके योगी ज्ञान तृप्तात्मा बन जाता है। उसका प्रकृति पर पूर्ण वशीकार हो जाता है।

ऊपर के सूत्र में कहा गया है :-

कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च

काया की सम्पत्ति क्या है— इसका वर्णन इसके अगले सूत्र में भगवान पतंजलि देव बतलायेंगे किन्तु पंच महाभूतों के कार्य योगी के रास्ते में रुकावट नहीं होते। वह यदृच्छा गति से जो भी कुछ चाहे कर सकता है। जैसे- योगी के मन में विचार आया कि मैं पृथ्वी में प्रवेश करूँ तो पृथ्वी उसकी इस इच्छा को रोक नहीं सकती। पृथ्वी के कठोरतम भाग पाषाण आदि में भी योगी निर्विघ्न प्रवेश कर सकता है जल का गीलापन उसको गीला नहीं कर सकता। अग्नि की उष्णता उसको जला नहीं सकती। वायु उसको उड़ा नहीं सकती, अनावरण आकाश भी उसके आवृत होने में बाधा नहीं डालता। अनावृत आकाश में भी वह अपने रूप को ढक लेता है वह सिद्धों के लिए भी अदृश्य हो जाता है। इससे आगे के जिस सूत्र में भगवान पतंजलि देव योगी की काय संदपन् का वर्णन करते हैं वह इस प्रकार है :

रुपलावण्यबलवज्र संहननत्वोनि कायसंपद्।

इसी सूत्र पर व्यास जी भाष्य करते हैं—

दर्शनीय: कान्तिमान् अतिशयबलो वज्र संहनन-श्चेति।

अर्थात् सुन्दरतम या अतिशय काँतिमान होना अतिशय बल का धारणा करना, वज्र के समान अभेद्य अछेद्य होना यह योगी के शरीर का ऐश्वर्य है। भूतजयी योगी इस महान ऐश्वर्य को प्राप्त करके सब प्रकार से बलशाली एवं कृत कृत्य हो जाया करते हैं। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि योगी को संयम बल पूर्णरूपेण प्राप्त हुआ हो। जिनकी आधार भित्ति सुदृढ़ है एवं अपने धारणा, ध्यान समाधि के अभ्यास में सुदृढ़ता के साथ परिपक्व अभ्यास वाले बने चले आये हों तो उनका संयम बल भी परिपक्व हो जाता है और वे इस विपुल ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया करते हैं।

योग ही आत्मज्ञान का साधन है?

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सागर (मध्यप्रदेश) में श्री सद्गुरुदेवजी ने अपना योग-प्रचार कार्यक्रम वहाँ के योगानुरागी साधकों के आग्रह पर गत नवम्बर मास में निर्धारित किया था। इसी प्रचार-शृंखला में आपके दो महत्वपूर्ण प्रवचन यहाँ हुए थे। इनमें से एक सागर विश्वविद्यालय पुस्तकालय कक्ष में मनीषा: संस्था के तत्वावधान में और दूसरा ज्ञान-मन्दिर महार रेजीमेण्ट में सैनिकों के समक्ष हुआ था। इन दोनों प्रवचनों का संक्षिप्त सार ही हम यहाँ पाठकों के लाभार्थ दे रहे हैं।)

— संयुक्त सम्पादक)

'योग-विद्या मूल में भारतीय विद्या है। यह विद्या सभी विद्याओं से श्रेष्ठ है। भारतीय होते हुए भी आज विदेशों में इसका महत्व स्थापित हो रहा है किन्तु हम भारतीय इसे भूलते जा रहे हैं, यह चिंता का विषय है। विश्वविद्यालयों में अनेक विद्याओं का अध्यापन होता है। बाह्य संसार के ज्ञान के विषय में अनेक अनुसंधान यहाँ किए जाते हैं किन्तु अपने अंतरंग के विषय में कोई कुछ जानने का प्रयास नहीं करता, वास्तव में अपने अंतरंग को जानना, अपनी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना ही सच्चा ज्ञान है :-

यस्मिन् ज्ञाते सर्वमेव ज्ञातं भवति।

अत: इतने ऊँचे ज्ञान-पीठों में इस महान ज्ञान के देने की व्यवस्था भी होनी चाहिए।

योग के सम्बन्ध में साधारण जन-भावना यह है कि यह एक बड़ी दुरूह विद्या है जो कि पर्वत, गुफाओं, जंगलों में अनवरत साधना करके ही प्राप्त की जा सकती है, यह धारणा भ्रमपूर्ण है। चित्त की एकाग्रता ही योग है और यह एकाग्रता बड़ी सरलता से जो जिसका इष्टदेव है उसी का स्मरण करके प्राप्त हो सकती है। यहाँ तक कि सोने के माध्यम से भी चित्त की एकाग्रता प्राप्त हो सकती है। "**योगश्चित्तवृत्ति निरोध:**" चित्तवृतियों को अपने विषयों से खींचकर इष्टदेव में लगाने मात्र से इसके सतत् अभ्यास से चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। फिर इस एकाग्रता से मन की शक्ति इतनी बढ़ सकती है कि हम यहाँ बैठे-बैठे ही सारे संसार की तथा भूत-भविष्य की घटनाओं को भी देख सकते हैं। यदि भौतिक पदार्थों की सहायता से हम दूर-दूर की वस्तुयें देख सकते हैं तो मानसिक तथा आध्यात्मिकं शक्ति के प्राबल्य से इस प्रकार भूत-भविष्य का ज्ञान भी अवश्य सम्भव है।

संसार का ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त होता है, मन इन्द्रियों से परे है। मन से परे बुद्धि है तथा "**यो बुद्धे: परतस्तु स**" यह आत्मा बुद्धि के सम्पर्क से ही विकारयुक्त होकर सुख दु:खादि का अनुभव करने का भ्रम धारण करती है, जबकि वह स्वयं सुख-दु:खादि के अनुभवों से परे है।'

श्री महाराज ने अत्यन्त संक्षेप तथा सरल भाषा में यम नियमादि अष्टाँग योग के सम्बन्ध में बतलाते हुए कहा कि किस प्रकार धारणा तथा ध्यान ही अपने चरमोत्कर्ष में समाधि में परिवर्तित हो जाते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व देहली में हुए विश्व योग-सम्मेलन की चर्चा करते हुए श्री महाराज जी ने बतलाया कि—

'मुझे भी सम्मेलन के अध्यक्ष अमेरिका वासी श्री क्रस्टोफर हिल्स ने वहां प्रवचन हेतु बुलाया था। पर साथ ही समय का बन्धन डाल दिया था। समय के भीतर अपने प्रवचन समाप्त करके मैं बाहर आकर बैठ गया। बाहर अनेक लोग मेरे आस-पास एकत्रित हो गये। मैंने वहीं कुछ लोगों को यौगिक क्रियायें करवाना प्रारंभ कर दिया। इसी बीच अध्यक्ष महोदय ने एक रूसी प्रोफेसर सिडनी को मेरे पास भेजा ताकि मैं कार्यक्रम समाप्त कर दूँ, परन्तु प्रो. सिडनी जो हमारी

गतिविधि को समाप्त करने-कराने की बात कहने आया था, स्वयं सामने बैठकर समाधिस्थ हो गया।'

श्री महाराज जी ने आगे कहा—

'भारतीय लोग समय का मूल्य न जानने के लिए बदनाम हैं, परन्तु क्या करें। अमेरिका वासियों ने एक हिन्दू सन्यासी (स्वामी विवेकानन्द) को बोलने को तीन मिनट दिये थे। परन्तु वे उन्हें तीन दिन तक सुनते रहे, ऐसी है हमारी अपनी संस्कृति की विशेषता। यहाँ हम समय के दास नहीं, समय हमारा दास है। विश्व-योग का केन्द्र भारत में ही स्थापित हो सकता है, यही उसकी उचित भूमि है।'

इसके बाद महाराज जी के निर्देशन में योग के कुछ सरल आसनों का प्रदर्शन भी यहाँ हुआ। श्रीमहाराज जी ने उपस्थित विद्वानों की शंकाओं का समाधान भी किया।

इसके पश्चात् सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा. भागीरथ मिश्र का संक्षिप्त भाषण हुआ, तथा योग-विभागाध्यक्ष डा. जोशी द्वारा धन्यवाद प्रदर्शित किया गया, कार्यक्रम का संचालन 'मनीषा' के डा. जगदम्बाप्रसाद राठौर ने किया था। ज्ञान मन्दिर महार रेजीमेण्ट कैम्प सागर में आपका दूसरा प्रवचन हुआ। आपने ओजस्वी वाणी में कहा कि—

'भारतीय सेना सदैव से ही सम्मानित रही है। वर्तमान परिस्थितियों में कोई भी देश भारतीय शक्ति को नहीं भुला सकता है, यहाँ सदैव ही शक्ति की पूजा होती रही है। शक्ति-पूजा का केन्द्र होने के कारण ही यहाँ विभिन्न दैवी शक्तियों की आराधना करते हैं। यहाँ तक कि आसुरी शक्ति की भी साधना कुछ-कुछ लोग करने लगते हैं। इससे स्पष्ट है कि शक्ति ही सबका केन्द्र-बिन्दु है। भारतीय सेना राष्ट्र की रक्षा का केन्द्र है। भारतीय सेना को और भी अधिक प्रभावपूर्ण बनाने में यदि योग को जोड़ दिया जावे तो साधारण अभ्यास से भारतीय सैनिक की शक्ति क्षमता कई गुनी अपने आप हो जावेगी।'

'जहाँ तक अधिकारी अर्थात् योग के सुपात्र का प्रश्न है, वहाँ तक सैनिक वर्ग उसका सुपात्र है, क्योंकि संसर्ग दोष सैनिकों में नहीं होता। सांसारिक लगाव भी एकदम नहीं होता है। वे त्याग के स्तम्भ होते हैं, यदि योग के आधार पर उनके मनोबल में ध्यान की एकाग्रता तथा शारीरिक स्वास्थ्य को जोड़कर और बढ़ा दिया जाय तो ये ही सामान्य दिखने वाले सैनिक असामान्य शक्ति वाले हो जावेंगे। उनके खाने की व्यवस्था भी योग के अनुकूल करने पर उनकी शक्ति को संचालित सरलता से किया जा सकता है। वास्तव में सैनिक वर्ग एक प्रकार से वैरागी ही होता है, जो देश की रक्षा के लिए पूर्ण समर्पित रहते हैं। वैरागी वर्ग भी कल्याण भावना को जाग्रत करता है एवं मातृभूमि को विभिन्न आपत्तियों से बचाता रहता है।

'योग एवं ब्रह्मचर्य का ही प्रभाव था कि महाभारत का वीर अभिमन्यु शेर की तरह लड़ा, जिसने गर्भकाल में ही पूर्ण युद्ध-कौशल प्राप्त कर लिया था।' योगिराज ने स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि सैनिक ट्रेनिंग में योग-कार्यक्रम को जोड़कर राष्ट्रीय शक्ति को कई गुना बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार से आध्यात्मिक आधार होते हुए भी वास्तव में योग शक्ति-वृद्धि के लिए सर्वोत्तम उपाय है और सैनिकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। महाराज जी ने अन्त में जन-कल्याण का सदुपदेश दिया।

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभंगुरम्।
उन्मत्तमिव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम्।।

'जीव की आयु पत्ते के सिर पर लटक रहे जल-बिन्दु (ओस) के सदृश अस्थिर है, वह उन्मत्त के समान असमय में ही इस कुत्सित शरीर को छोड़कर चली जाती है।''

योगांगों का अनुष्ठान और क्लेश निवृत्ति

विशेष लेख :- श्री योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सिद्धयोग के अपने लेखों में हम प्राय: योगाङ्गों के अनुष्ठान का महत्व समझाने का प्रयत्न करते रहे हैं। साधनों के अनुष्ठान का अपना महत्व होता ही है। बिना अनुष्ठान और साधना के कोई भी साधक लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ नहीं हो सकता। योगदर्शन में वर्णित पंच विधि क्लेशों (अविद्याऽस्मिता राग-द्वेष अभिनिवेश:) की निवृत्ति भी योगाङ्गों के अनुष्ठान से हो सकती है, इसे योग-दर्शन में बहु विधि समझाने का उपक्रम किया गया है।

योगांगों के अनुष्ठान करने का फल विवेक-ख्याति बतलाया है। विवेक ज्ञान उसी दशा में प्राप्त हो सकता है जबकि रज और तम के नाश हो जाने के बाद स्वत: ही सत्व शुद्धि हो जाये और ज्ञान चमक उठे। यथा-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा वि-वेक-ख्याते:।

अर्थात् योगांगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धिका नाश होता ही रहता है, तब तक जब तक कि मनुष्य को पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त न हो जाये। जैसा कि इस सूत्र पर व्यास भाष्य है—

योगांगानि: अष्टावभिधामिष्यमाणानि तेषाम-नुष्ठानात् पंच पर्वणोविपर्य्यस्या शुद्धिरूपस्य क्षय: नाश:, तत्क्षये सम्यग् ज्ञानस्याभि व्यक्ति:, यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धि-रापद्यते, यथा यथा च क्षीयन्ते तथा तथा क्षयक्रमानु-रोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते, सा खल्वेषा विबृद्धि: प्रकर्षमनुमवत्या विवेक ख्याते: आगुण पुरुषस्वरूप विज्ञानादित्यर्थ:।

अर्थात् योग के जो आठ अंग हैं उनको अभ्यास में लाने से पंचपर्वा विद्या जनित अशुद्धि का नाश होता है और अविद्या के नाश हो जाने पर सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है जैसे-जैसे मनुष्य साधनों का अनुष्ठान करता है, तैसे ही तैसे अशुद्धि क्षीण होती चली जाती है और ज्यों-ज्यों अविद्या जनित अशुद्धि क्षीण होती है त्यों-त्यों क्षय कर्मानुरोधिनी ज्ञान दीप्ति बढ़ती चली जाती है। जितना-जितना अशुद्धि का नाश होता है उतना ही उतना विवेक ज्ञान बढ़ता रहता है। इस विवेक ज्ञान की वृद्धि गुणों से लेकर जब तक आत्म दर्शन नहीं होता तब तक विवेक ख्याति बढ़ती ही चली जाती है। पुरुष-ज्ञान ही विवेक ज्ञान की सीमा है। हमने अपने पिछले लेखों में क्लेश-निवृत्यक यम-नियम आदिकों का वर्णन भली प्रकार कर दिया है। यम-नियमों का पालन करना विवेक ज्ञान का साधन है। यम-नियमों के बाद क्रमानुसार भगवान पतंजलिदेव ने आसनों का संकेत किया है। आसनों के विषय में लोगों की धारणा है कि ये सब केवल शरीर शुद्धि के ही कारणभूत हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है। शारीरिक आरोग्यता प्राप्त कराना तो आसनों का फल है ही। किन्तु शरीर के साथ-साथ साधक के मानस स्वस्थ्य को भी पूरा-पूरा लाभ पहुँचता है। आसन करने वाले साधक का शरीर स्वस्थ सुकोमल एवं लम्बे समय तक रहने वाला बन ही जाता है। किन्तु उसके साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य आसन-बंध-मुद्राओं का अधिक अभ्यास करता है त्यों-त्यों उसके शरीर में वीर्य व्यापक होकर मानस शांति एवं आत्म तेज को बढ़ाने वाला होता है और आसनों में भी कुछ आसन तो इस प्रकार के हैं कि जिनका परिणाम शारीरिक स्वास्थ्य वृद्धि के साथ-साथ आत्मोत्कर्ष की ओर भी बहुत प्रगति के साथ बढ़ाते हैं। जैसे सिद्धासन, पद्मासन, पश्चिमोत्तान एवं शीर्षासन। जहाँ हमारे आचार्यों ने आसनों का वर्णन किया है वहाँ पर इनके फलादेश में परमार्थिक लाभ का भी बहुत बड़ा परिचय दिया हैं। देखिए, सिद्धासन का फल, योगी आत्मारामने 'हठयोग प्रदीपिका' में इस प्रकार लिखा है :-

चतुरशीति पीठेषु, सिद्धमेव सदाऽभ्यसेत्।
द्वा सप्ततिसहस्त्राणां नाडीनां मल शोधनम्।।

आत्मध्यायी मिताहारी
यावद् द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासात्
योगी निष्पत्ति माप्नुयात्।।

अर्थात् चौरासी आसनों में सिद्धासन के अभ्यास को ही प्रमुखत: करना चाहिए जो बहत्तर हजार नाड़ियों के मलका शोधन करता हैं। इस आसन का बराबर सेवन करते रहने से 12 वर्ष में मनुष्य सिद्धि को पा जाता हैं। इसी प्रकार से पद्मासन का फल देखिए :-

पद्मासने स्थितो योगी नाड़ी द्वारेण पूरितम।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो मात्र संशय:।।

अर्थात् पद्मासन में बैठकर जो योगी मारुत धारण करता है उसकी मुक्ति में कोई शंका ही नहीं। इसी प्रकार से पश्चिमोत्तान का फल देखिये।

इति पश्चिमतानमासनाग्रंयं
पवनं पश्चिम वाहिनं करोति।
उदयं जठरालस्य कुर्यादुदरे
काश्र्यम् रोगतां च पुंसाम्।।

अर्थात् पश्चिमोत्तान आसन प्राण रूप को पश्चिम वाही करता है अर्थात् सुषुम्ना में पहुँचता है और जठराग्नि को बढ़ाता है। उदर के मध्य में कृशता को करता है और बल देकर शरीर को आरोग्य करता है। इस प्रकार से शीर्षासन का फल देखिये :-

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं जरामृत्युं च नाशयेत्।
स सिद्ध: सर्व लोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति।।

शीर्षासन को विपरीतकरणी मुद्रा कहा गया है शीर्षासन के अभ्यास में मनुष्य को अध: शिरोर्धपाद होना पड़ता है। इसलिए इस आसन को विपरीतकरणी मुद्रा कहा गया है। जो मनुष्य विपरीतकरणी मुद्रा अभ्यास करता है, वह बुढ़ापे और मृत्यु पर विजय पा जाता है और पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है। आदि-आदि। अत: हमारे योग आसन केवल शारीरिक स्वास्थ्य के दाता ही नहीं प्रत्युत आत्मोत्कर्ष के भी दाता हैं। और समस्त योगांगों में आसनों का स्थान उत्कृष्ट होने से ये भी अनुष्ठान किये हुए मनुष्य को विवेक-ख्याति की ओर ले जाते हैं। जहाँ पर मनुष्य को योग के अन्यान्य अंगों का अभ्यास करने में अविद्या जनित अशुद्धि का नाश होता है, वहां पर प्राणायाम का विषय उत्तरोत्कृष्ट है। भगवान पतंजलिदेव योग दर्शन में तप के द्वारा अशुद्धि नाश होने पर कायिक और इन्द्रिय शुद्धि होने का उत्कृष्टता के साथ वर्णन करते हैं। तप की उनकी व्याख्या है :-

द्वन्द्व सहनं तप:

अर्थात् सर्दी-गर्मी-भूख-प्यास के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है। द्वन्द्व सहन का अर्थ इतना ही नहीं कि मनुष्य समय-समय पर भूख प्यास पर नियंत्रण कर ले प्रत्युत प्राण पर नियंत्रण करना भी इस परिभाषा में आता है। प्राण पर नियंत्रण करने को सबसे बड़ा तप कहा है। प्राण की महिमा का वर्णन करते हुए हमारे आचार्यों ने बहुत कुछ कहा है। वे लिखते हैं-

प्राणोपि भगवानीश: प्राणो विष्णु पितामह:।
प्राणेन धायते लोक: सर्वं प्राण मयं जगत्।।

अर्थात् प्राण ही भगवान शिव है, और प्राण ही स्वयं ब्रह्मा है प्राण ही सारे संसार को धारण करता है सारा संसार प्राणमय है। इसलिए प्राण पर नियंत्रण करना तपों से भी महान तप है और विवेक-ख्याति का मूल कारण है। इसलिए अविद्या जनित क्लेशों की निवृत्ति के लिए प्राणायाम भी बहुत बड़ा अमूल्य साधन है।

भगवान मनुदेव मनुस्मृति में लिखते हैं—

दह्यन्ते ध्याय मानानां
धातूनां हि यथा मला:।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते
दोषा: प्राणस्य निग्रहात्।।

अर्थात् जिस प्रकार सोना, चांदी आदि धातुओं के तपाने से उनके मल जल जाया करते हैं, उसी प्रकार से प्राणों पर नियंत्रण करने से इन्द्रियों के मल जल जाते हैं। अत: प्राणायाम भी क्लेश, निवृत्ति का एक बहुत बड़ा साधन है, जिसका सांकेतिक परिचय देने का हमने प्रयत्न किया है। आगामी लेखों में हम इसका विशद वर्णन करेंगे।

शक्ति प्राप्ति का साधन- धारणा

(योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज)

हमने कभी किसी लेखों में यह भली प्रकार से समझा दिया है कि शक्ति-विहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं है। हमारे शास्त्रों का भी कथन है :-

''नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो''

अर्थात् बलहीन मनुष्य को आत्म-पद की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। जो प्राणी शक्तिहीन है वह लोक व परलोक के सुख को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन केवल इस प्रकार का है जिस प्रकार से वर्षा काल में अनेक प्रकार के कीट-पतंगें आदि जन्म लेकर मर जाया करते हैं। मनुष्य जब से जन्म ग्रहण करता है तब से उसके मन में शक्ति-प्राप्ति की धुनि सवार रहती है। किन्तु ''मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना'' के नियमानुसार साधन में मनुष्य अपनी मति के अनुसार प्रवृत्त होता है। इसलिए वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार की शक्ति का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है किन्तु उसका वह आह्लाद बहुत थोड़े समय के लिए होता है। जिस प्रकार से समुद्र की मछली को कहीं तपी हुई बालुका में डाल दिया जाये तो वह इस बालुका कण गर्मी को पाकर तड़प जाया करती है और यदि उसको कोई छोटा-सा भी जलाशय मिल जाता है, तो उसे पाकर उसे शान्ति मिलती है किन्तु यह शांति भी उसके लिए अस्थाई रहती है। जब तक वह अपने घर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जाती है तब तक उसका दु:ख तड़पना किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जीवात्मा शक्ति के भंडार परमात्मा का अंश है अत: जब तक यह उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक छोटी-मोटी शक्तियों को पाकर इसको शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती और जिसको शान्ति ही नहीं मिली, उसको सुख कहाँ से आयेगा। इसलिये योगियों ने अपने तप के आधार पर उच्चतम शक्ति प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण किया जिनको अपनाते हुए वे कभी भी दीनता को प्राप्त नहीं होगे। हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन को ज्योतियों की भी महा ज्योति कहा गया है और वेद मंत्रों में उसको शिव-संकल्प वाला होने की प्रार्थना की गई है।

वेद भगवान ने कहा है कि हमारा मन जैसे जागता हुआ दूर-दूर भ्रमण करता है और सोता हुआ भी इसी प्रकार क्रियाशील बना रहा करता है। उसमें शुभ संकल्पों का वास हो जिससे वह हमारे उत्थान का कारण बने। हमारे पूर्वजों का कथन है-

मन एव मनुष्याणाम्
कारणं बन्धमोययो:।

अर्थात् बन्धन और मुक्ति का कारण मन है इसलिए सर्व प्रथम मन की चंचलता को रोक कर शक्ति संचय करने के लिए उसको संयम में ले आना बहुत ही आवश्यक है। भगवान पतंजलिदेव ने 'योग-दर्शन' में अष्टांग योग का वर्णन किया है यह सारे-के-सारे अंग यद्यपि मन पर नियंत्रण करने के लिये अचूक साधन हैं। किन्तु फिर भी सब प्रकार की साधना करते हुए अष्ट्राँग योग के अन्दर धारणा, ध्यान और समाधि मनोनिग्रह करने के तीन प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है। जब तक मन किसी धारणा के द्वारा अन्तर्मुख नहीं होता तब तक इसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता। किसी महा वृक्ष को छेदन करने के लिए पहले इस प्रकार के शस्त्र की जरूरत है जो तेजधार वाला हो और जो उसे काट सके इसलिये परम श्रेय लाभ करने के लिए और अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को संग्रहीत करने के लिए प्रथम मन को ही वश लेना बहुत आवश्यक है। इस की पहली साधना धारणा से आरम्भ होती है।

धारणा

धारणा का अभ्यासी मनुष्य बाह्य जगत् में प्रवेश करने की योग्यता को धारण करता है। धारणा क्या है? इसके विषय में भगवान् पतंजलि देव अपने सूत्र में इस प्रकार निर्देश करते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थात् किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। यह धारणा ही योग का सर्व प्रथम सोपान है। यहाँ से ही मनुष्य का सर्वार्थक मन एकाग्र होना आरम्भ होता है। धारणा कहाँ करनी चाहिए इस विषय में शास्त्रों के अनेक मत हैं किन्तु व्यास देव जी योग-दर्शन के भाष्यकार ने धारणा स्थान निम्नांकित बतलाये हैं—

नाभिचक्रे, हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषी, नासिकाऽग्रे, जिह्वाऽग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्ति मात्रेण बन्ध इति धारणा।

अर्थात् नाभिचक्र हृदय कमल, मूर्ध्व ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त की वृत्ति मात्र को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। वृत्ति मात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इनको हम अपने मन की वृत्ति कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें, जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। देखे एवं सुने हुए विषय को मन की भावना के रूप में चिंतन करना ही वृत्ति-बन्ध है। इसका अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे हमने हृदय कमल में भगवान् शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ करें और कल्पना से उनके स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगें। यही हृदय कमल की धारणा है। बार-बार कल्पना से भगवान शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु या अन्य किसी भी इष्टदेव के स्वरूप का हृदय कमल में चिंतन करना यह हृतपुण्डरीक में होने वाली धारणा है इसी प्रकार से मूर्ध्वा ज्योति, नासिका, अग्र, जिह्वाग्र, नाभि चक्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। किसी भी काम में मनुष्य जल्दी परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् पतंजलिदेव का आदेश है :-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमि:।

अर्थात् किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिए उसका वर्षों तक लगातार करते रहना बहुत आवश्यक है। यह नहीं कि हम एक-दो दिन करके ही उसके परिणाम पर नजर डालने लगें। काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए और लगातार करना चाहिए अर्थात् इस नियम में कोई विघ्न नहीं आने पावे। आज कर लिया कर फिर छूट गया, फिर दो चार रोज करके फिर कुछ समय के लिए छूट गया। इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतम स्तर पर नहीं ले जा सकता। उसके साथ-साथ एक बात और परमावश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिसमें हमारी श्रद्धा परिपूर्ण रूपेण हो, हमने किसी मन्त्र का जाप शुरू किया और उसमें हमारी आस्था न हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। वैसे शास्त्रीय नियम के अनुसार ''अकर्णात् कर्णम् श्रेय:'' न करने से कुछ करना ही अच्छा है, इस बात को विचार में रखते हुए जो कुछ भी किया जाय, कुछ-न-कुछ भले के लिए तो होता ही है, किन्तु यदि हम उसके उत्तम और अन्तिम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है। इसलिए धारणा को भी परिपक्व करने के लिये हमें कम-से-कम तीन साल तक एक विषय पर ही परिपक्व मन लगाना चाहिए। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारी भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोबल अवश्य बढ़ेगा ही बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्च स्तर की योग्यता प्रकट हो जाती है और वह एकाग्रता की ओर चलने लगता है। भगवान् पतञ्जलि देव ने योग-दर्शन में कहा है :-

धारणा सु योग्यता मनस:।

अर्थात् धारणा करने पर मन की योग्यता बढ़ती है। मन में बल का विकास होता है और वह सब कुछ करने की ताकत वाला बन जाता है। जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रात: व सायंकाल 3-6 घण्टे अपने ध्येय विषय को धारणा करके उसको वृत्ति निरोध से एकाग्रित करना चाहता है उसका ऐसा अनवरत अभ्यास करने पर अवश्य ही वह विषय उसके मन में प्रगट होने लगता है। मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम हैं कि जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है। यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अच्छे नियन्त्रक गुरुदेव की आज्ञा में बँधकर अपने अभ्यास को नियमानुसार करता है तो इस प्रकार से लगातार किया हुआ यह धारणा अभ्यास स्वत: ही ध्यान के रूप में बदल जाया करता है।